

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवी

कवीन्द्र रवीन्द्र गीतिकाव्य के सर्वश्रे कवि तो थे ही, छोटी-छोटी कहानियों के लेख के रूप में भी उनकी प्रतिभा का चमत्का अद्‌भुत है। उन्हें जो अमर कीर्ति मिली है उसमें गीतिकाव्य के साथ-साथ उनकी कहानियों का भी हाथ है। उनकी कहानियों में विश्लेषण और अन्तर्दर्शन की जो प्रधानता है वह निश्चित रूप से अन्यत्र दुर्लभ है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

रवीन्द्र-द्वादशी

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बारह उत्कृष्ट कहानियां

भाषान्तरकार

राधेश्याम पुरोहित

प्रस्तावना

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य : दो रुपये
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली

कथा-क्रम

सुभा	७
कंकाल	१७
समस्या का अन्त	२९
ताश का देश	३९
व्यवधान	५३
शाहज़ादियां	६०
डिटेक्टिव	७३
दान-प्रतिदान	८६
लेन-देन	९५
रामकनाई की निर्बुद्धिता	१०४
जयमाल	१११
दुराशा	१२५

प्रस्तावना

श्री राधेश्याम पुरोहित शांतिनिकेतन में विद्याध्ययन कर रहे हैं। 'रवीन्द्र की लघुकथाएं' नामक एक छोटी-सी पुस्तक इन्होंने पहले ही लिखी है। उस पुस्तक में रवीन्द्रनाथ के उन प्रिय कथानकों में से कुछ के हिंदी रूपांतर का संकलन है, जिन्हें उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया था। रवीन्द्रनाथ गीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तो थे ही, छोटी-छोटी कहानियों के लेखक के रूप में भी उनकी प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाई पड़ता है। बहुत-सी कहानियाँ तो उन्होंने 'कहानी' के रूप में ही लिखी हैं। एक अंग्रेज़ समालोचक ने इन कहानियों के सम्बन्ध में लिखा है कि रवीन्द्रनाथ का काव्य चाहे चिरजीवी हो या न हो, पर ये कहानियां उन्हें निश्चित रूप से अमर कीर्ति देंगी। इस उक्ति से रवीन्द्रनाथ की कहानियों के महान आकर्षण का आभास मिलता है। काव्य के लिए भी रवीन्द्रनाथ ने कहानियों का आधार चुना है। उनकी बहुत-सी कविताएं पद्यबद्ध कथाएं हैं। बहुत-से सुकुमार भावों के गीतिकाव्य कहानी के रूप में पद्यबद्ध हुए हैं। संसार के बहुत कम कवि कहानी को इस प्रकार के सुकुमार भावों को व्यक्त करने का माध्यम बना सके हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने जिन रचनाओं को गद्य में 'कहानी' रूप में लिखा है और जिन्हें पद्यबद्ध करके 'काव्य' रूप में लिखा है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः पद्यबद्ध कहानियों में कल्पना और भावावेग का प्राधान्य है और गद्यबद्ध कहानियों में विश्लेषण और अन्तर्दर्शन का। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में से सभी प्रकार की कहानियों की

कथावस्तुएं यदि चयन की जाएं तो उनकी संख्या कई सौ होगी। श्री राधेश्याम ने इन अनेक प्रकार की कहानियों में से अपनी रुचि की कुछ कथाएं चुनकर यह संग्रह प्रस्तुत किया है। यद्यपि इसमें नाना श्रेणी की रचनाओं से सामग्री ली गई है, फिर भी मुझे यह प्रयास बहुत उत्तम मालूम हुआ। क्योंकि, यद्यपि इनमें काव्योचित भावावेग और संगीत-सुलभ कल्पना-प्रसार कम हो गया है, पर ये इस रूप में भी रवीन्द्रनाथ के विचार-वैभव को अवश्य पाठकों तक पहुंचा देती हैं।

श्री राधेश्याम की मातृ-भाषा यद्यपि हिन्दी (राजस्थानी) है, तथापि उनका विकास बंगलाभाषी क्षेत्रों में ही हुआ है और इसीलिए वे बंगला-भाषी भी हैं। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के साहित्य से उत्तम रत्नों को चुनकर बहुत अच्छा कार्य किया है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि उनकी यह साहित्य-प्रीति निरन्तर बढ़ती रहे और वे और भी बहुमूल्य रचनाएं साहित्य-संसार को देते रहें। तथास्तु।

शांतिनिकेतन
१४–६–५४

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सुभा

लड़की का नाम जब सुभाषिणी रखा गया था तो कौन जानता था कि वह गूंगी होगी। उसकी दो बहिनों का नाम था सुकेशिनी और सुहासिनी। तभी छोटी लड़की का बड़ी बहनों के नाम से मेल रखने के लिए नाम दिया गया—सुभाषिणी। अब सब लोग संक्षेप में उसे सुभा कहते हैं।

अच्छी तरह अनुसंधान करके और अर्थव्यय करके दोनों बड़ी लड़कियों की शादी तो हो चुकी है, अब छोटी लड़की पिता-माता पर नीरव हृदय-भार की तरह बैठी हुई है। वह बोल नहीं सकती थी, वह केवल अनुभव कर सकती थी, सभी लोग उसके सामने ही उसके भविष्य के बारे में दुश्चिन्ता प्रकाश करते थे। वह विधाता के अभिशाप को लेकर ही पिता-माता के घर आई है, यह बात शिशुकाल से वह जानती थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सर्वदा अपने को लोगों से छिपाकर रखना चाहती थी। वह सोचती कि लोग मुझे भूल जाएं तो ही अच्छा हो। किन्तु वेदना को क्या कोई भुला सकता है? पिता-माता के मन में वह सदा जागरूक थी।

विशेष रूप से उसकी मां उसे अपनी एक त्रुटि के रूप में

देखती थी। क्योंकि मां पुत्र की अपेक्षा कन्या को अपने ही अंश की तरह देखती है—उसकी यदि कोई असम्पूर्णता दिखाई पड़े तो मां उसे अपनी लज्जा का कारण समझती है। पिता विशेष रूप से सुभा को अपनी अन्य कन्याओं की अपेक्षा अधिक स्नेह करते थे। किन्तु माता उसे अपने गर्भ का कलक समझकर उसके प्रति विरक्त थी।

सुभा के वाणी नहीं थी, किन्तु सुदीर्घपल्लव बड़ी-बड़ी दो काली आंखें उसके थीं—और उसके अधर भाव के आभास-मात्र से ही किसलय की तरह कांप उठते थे।

बातचीत में हम जो भाव व्यक्त किया करते हैं वह हम अपनी चेष्टा से घड़ लेते हैं, बहुत कुछ रूपान्तर करने की तरह होता है जो हर वक्त ठीक नहीं होता है, कभी-कभी भूल-चूक भी हो जाती है। किन्तु काली आंखों का कुछ भी विश्लेषण नहीं करना पड़ता है—मन की छाया उनपर अपने आप पड़ती है।

भाव स्वयं कभी उनपर प्रसारित होता है, कभी मुदित होता है, कभी उज्ज्वल होकर जल उठता है, कभी ग्लानि होकर बुझ जाता है, कभी अस्तप्राय चन्द्र की तरह अनिमेष देखता रहता है, कभी चंचल विद्युत् की तरह कौंध उठता है। मुख के भाव के सिवाय आजन्मकाल से जिसकी भाषा कोई नहीं है, उसकी आंखों की भाषा उदार, अतल, स्पर्श-गम्भीर, बहुत ही स्वच्छ आकाश की तरह, उदयास्त और छायालोक की निस्तब्ध रंगभूमि जैसी होती है। इस वाक्यहीन मनुष्य में प्रकृति की तरह एक विजन महत्त्व है। इसीलिए साधारण

बालिकाएं सुभा से एक प्रकार से डरती थीं, वे उससे खेलती नहीं थीं। वह निर्जन दोपहरी की तरह शब्दहीन और संगहीन रहती।

गांव का नाम चण्डीपुर है। एक छोटी नदी भी है, घर की बेटी की तरह। बहुत दूर तक प्रसार नहीं है फिर भी दोनों किनारों के गांवों से उसका सम्पर्क नितान्त कम नहीं है। नदी के दोनों ओर लोकालय है और उसका तट तरुच्छाया से घना है।

सुभा के पिता वाणीकंठ का मकान नदी के बिल्कुल पास ही है। उसके मकान की चारदीवारी, गौघर, आम, कटहल और केले के गाछ, पुआल का स्तूप इत्यादि नौकायात्रियों के दृष्टि-पथ में आते हैं। इस गृहस्थी की स्वच्छन्दता में कोई गूंगी लड़की के बारे में भी सोचता है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; किन्तु काम-काज से अवसर पाते ही वह नदी के तीर पर आकर बैठ जाती है।

प्रकृति मानो उसकी भाषा का अभाव पूरा कर देती है। मानो उसकी होकर बोलती है। नदी की कलध्वनि, लोक-कालाहल, मांझियों का गीत, पक्षियों की अर्थहीन भाषा, तरु-मर्मर—सब मिलकर चारों ओर के परिवेश से एक होकर बालिका के चिर निस्तब्ध हृदय में समुद्र-तरंग की तरह आते हैं और उसके हृदय-उपकूल पर वे तरंगें टकराकर टूट जाती हैं। प्रकृति के विचित्र शब्द और गति, ये भी गूंगे की भाषा ही है—सुभा की बड़ी-बड़ी आंखों की भाषा का ही यह विश्वव्यापी विस्तार है; झिल्लीरवपूर्ण तृणभूमि से शब्दहीन

नक्षत्रलोक तक केवल इंगिति, भंगिमा, संगीत, क्रंदन और दीर्घनिश्वास ही तो है।

और जब मल्लाह और मछुवे दोपहर में खाने जाते, गृहस्थ लोग सोते रहते, नाव चलती नहीं थी, सकल जगत् सारे काम-काज के बीच सहसा ठहरकर भयानक विजन मूर्ति धर लेता तो रुद्र महाकाश के नीचे केवल एक निर्वाक् प्रकृति और एक निर्वाक् लड़की आमने-सामने चुपचाप बैठे रहते—एक सुविस्तीर्ण रौद्र में, दूसरी क्षुद्र तरुच्छाया के नीचे।

सुभा के भी कुछ मित्र थे। इनमें उनकी दो गाएं, जिनका नाम सर्वशी और पांगुली था, सुभा को अधिक प्रिय थीं। बालिका के मुंह से अपना नाम कभी न सुनकर भी सर्वशी और पांगुली सुभा के पदशब्द को पहचानती थीं—सुभा के कथाहीन करुण स्वर को वे भाषा की अपेक्षा अधिक समझती थीं। सुभा कब उनका आदर कर रही है, कब उनसे मिन्नतें कर रही है, कब भर्त्सना कर रही है, यहां मनुष्य से अधिक वे समझदार थीं।

सुभा गौघर में जाकर अपनी दोनों बाहुओं से सर्वशी का ग्रीवावेष्टन कर लेती और उसके कान के पास अपनी कन-पटी रखकर घिसती। पांगुली खड़ी उसे स्निग्धदृष्टि से देखती और उसका शरीर चाटती रहती। सुभा प्रतिदिन नियमित तीन बार गौघर में जाती, इसके अलावा अनियमित जाना तो था ही। घर पर किसी दिन यदि कोई कटु बात सुनती तो वह असमय में अपने दोनों मूक बंधुओं के पास आ जाती—उसके सहिष्णुता-परिपूर्ण विषाद-शान्त दृष्टिपात से

ही सर्वशी और पांगुली मानो एक अन्ध अनुमान-शक्ति के द्वारा बालिका की मर्मवेदना समझ लेतीं और सुभा के नज़दीक आकर उसकी बाहु पर अपने सींग घिसकर निर्वाक् व्याकुलता से धीरज देतीं।

इसके अलावा सुभा के मित्रों में एक बकरी और बिल्ली का बच्चा भी था, किन्तु उनसे सुभा की इतनी समानता की मित्रता न थी, फिर भी वे यथेष्ट अनुराग प्रकाशित करते। बिल्ली का बच्चा किसी भी समय आकर सुभा की गरम गोद में सुखनिद्रा के लिए प्रस्तुत हो जाता और यदि सुभा उसकी ग्रीवा और पीठ पर हाथ फेरे तो उसकी निद्रा में विशेष सहायता होगी, इंगिति से यह भी समझा देता।

उन्नत श्रेणी के प्राणियों में सुभा का और एक मित्र था। किन्तु उसके साथ बालिका का ऐसा सम्पर्क था यह निर्णय करना कठिन है, क्योंकि वह भाषा-विशिष्ट प्राणी है; इसलिए दोनों में समभाषा नहीं थी।

गोसाइयों के छोटे लड़के का नाम प्रताप था। वह नितान्त निकम्मा था और कभी काम-काज करके परिवार की उन्नति कर सकेगा, यह आशा उसके मां-बाप ने त्याग दी थी। निकम्मों की सुविधा यह है कि परिवार के लोग उनपर विरक्त ज़रूर रहते हैं। किन्तु वे लोग निःसम्पर्क लोगों के प्रिय पात्र हो जाते हैं—क्योंकि किसी काम में आबद्ध न रहने के कारण वे सरकारी सम्पत्ति के रूप में हो जाते हैं। शहर

में जैसे गृहसम्पर्कहीन दो-चार सरकारी बगीचों की आवश्यकता होती है, गांव में उसी तरह दो-चार अकर्मण्य सरकारी लोगों का रहना नितान्त आवश्यक है। जहां भी ज़रूरत हो इन्हें बुलाया जा सकता है।

प्रताप का प्रधान शौक था——मछली पकड़ना। इससे बहुत-सा समय सहज में ही कट जाता है। दोपहर के बाद नदी के तीर पर उसको यह काम करते देखा जाता था। और यहीं सुभा के साथ उसकी भेंट हो जाती थी। किसी काम में हो हो, एक संगी मिलने पर प्रताप खुश रहता है। और मछली पकड़ते वक्त वाक्यहीन संगी ही सबसे अधिक उपयुक्त है——इसलिए प्रताप सुभा की आवश्यकता समझता था। सुभा को सभी लोग सुभा कहकर पुकारते थे, किन्तु प्रताप थोड़ा अतिरिक्त आदर के साथ सुभा को 'सू' कहता था।

सुभा इमली के पेड़ के नीचे बैठी रहती और प्रताप पानी की ओर देखता हुआ बैठा रहता। बीच-बीच में सुभा प्रताप को पान देती और बैठी-बैठी सोचती कि वह प्रताप का और कोई काम करे, किसी तरह उसे यह समझने दे कि इस पृथ्वी पर उसका भी कुछ प्रयोजन है जो नितान्त कम नहीं है। किन्तु करने के लिए कुछ नहीं था।

तब वह मन ही मन विधाता से अलौकिक क्षमता की प्रार्थना करती——मनःशक्ति से सहसा ऐसा कुछ करने की इच्छा होती, जिसे देखकर प्रताप आश्चर्यचकित हो जाता, बोलता, "अरे! हमारी सू में इतनी क्षमता थी, यह तो मालूम ही नहीं था।"

सोचो, यदि सुभा जल-कुमारी होती तो धीरे-धीरे पानी से

निकलकर सांप की एक मणि घाट पर रख जाती; प्रताप तुच्छ मछली पकड़ना छोड़कर वह मणि लेकर पानी में डुबकी लगा लेता और पाताल में जाकर देखता—चांदी के महल में वह कौन बैठो है?—हमारी वाणीकंठ की गूंगी लड़की सू—हमारी सू, मणिदीप्त गम्भीर, निस्तब्ध पातालपुरी की एकमात्र राज-कन्या? क्या यह असम्भव है? किन्तु असल में कुछ भी असम्भव नहीं है। फिर भी सू प्रजाशून्य पाताल के राजवंश में न जन्म लेकर वाणीकंठ के घर में ही जन्मी है और गोसाईं के लड़के प्रताप को किसी तरह भी आश्चर्यचकित नहीं कर पा रही है!

सुभा की उम्र क्रमशः बढ़ती जा रही है। क्रमशः वह मानो अपने को अनुभव करने लगी है। मानो किसी एक पूर्णिमा तिथि के दिन समुद्र से ज्वार का स्रोत आकर उसकी अन्तरात्मा को एक नवीन अनिर्वचनीय चेतना-शक्ति से परि-पूर्ण कर रहा है। वह अपने को खुद ही देख रही है, सोच रही है, प्रश्न कर रही है और समझ नहीं रही है।

गम्भीर पूर्णिमा की रात को वह एक-एक दिन डरते-डरते द्वार खोलकर बाहर की ओर देखती। पूर्णिमा प्रकृति भी मानो सुभा की तरह एकाकिनी सुप्त जगत् पर जागकर बैठी है—यौवन के रहस्य में, पुलक में, विषाद में, असीम निर्जनता की शेष सीमा तक और इन्हें अतिक्रम करके भी स्तब्ध है, एक शब्द भी नहीं बोल पा रही है। इस निस्तब्ध प्रकृति के प्रान्त

पर एक निस्तब्ध व्याकुल बालिका खड़ी है। इधर कन्यादाय-ग्रस्त माता-पिता चिन्तित हो उठे हैं। लोगों ने निन्दा शुरू कर दी है। यहां तक कि जाति से बाहर निकलने की अफवाह भो सुनी जा रही है। वाणीकंठ की अवस्था स्वच्छन्द थी, इसलिए उनके शत्रु भी थे।

पति-पत्नी में बहुत परामर्श हुआ। कुछ दिन के लिए वाणीकंठ विदेश गए।

अन्त में लौटकर बोले--"चलो, कलकत्ते चलो।" यात्रा की तैयारियां होने लगीं।

कोहरे से आवृत्त प्रभात की तरह सुभा का सारा हृदय अश्रुकण से भर गया। एक अनिर्दिष्ट आशंका के कारण क्रमागत वह कुछ दिनों से निर्वाक् जन्तु की तरह अपने मां-बाप के साथ रहती--बड़ी-बड़ी आंखों से उनके मुंह की ओर देखकर कुछ समझने की कोशिश करती, किन्तु वे कुछ भी समझाकर नहीं कहते थे।

एक अपराह्न में प्रताप मछली पकड़ रहा था। सुभा को देखकर हंसकर बोला—"क्यों रे सू, सुना तेरा दुल्हा मिल गया है, तू ब्याह करने जा रही है? देखना हमें मत भूल जाना।"

यह कहकर वह फिर मछली पकड़ने लगा।

मर्मबिद्ध हरिणी जिस तरह व्याध की ओर देखकर नीरव भाषा में बोलती है--मैंने तुम्हारा क्या दोष किया था?--सुभा ने भी प्रताप की ओर उसी तरह देखा। उस दिन इमली के पेड़ के नीचे और नहीं बैठी। वाणीकंठ सोकर उठे थे। वे शयनगृह में हुक्का पी रहे थे। सुभा आकर उनके पैरों के पास

बैठ गई और उनके मुंह की ओर देखकर रोने लगी। उसे सान्त्वना देते वक्त वाणीकंठ की आंखों में भी आंसू आ गए।

कल कलकत्ते जाने का दिन स्थिर हुआ है। सुभा गौघर में अपनी बालसखियों से विदाई लेने गई। उन्हें अपने हाथों से खिलाया, उनका गला पकड़कर दोनों आंखों से उनका मुंह देखने लगी––धीरे-धीरे सुभा की दोनों आंखों से आंसू की बूंदें लुढ़कने लगीं।

उस दिन शुक्लपक्ष की द्वादशी की रात्रि थी। सुभा सोने के कमरे से निकलकर अपनी चिरपरिचित नदी-तट की शस्य-शय्या पर लेटकर रोने लगी। मानो धरती को, इस प्रकाण्ड मूक मानवता को कहना चाहती है––तुम मुझको जाने मत दो मां। अपनी दोनों बाहु बढ़ाकर मुझे रोक लो।

कलकत्ते में एक दिन सुभा की मां ने सुभा को अच्छी तरह सजा दिया। अच्छी तरह वेणी गूंथी, बालों में जरी का फीता लगाया, अच्छे-अच्छे अलंकार पहनाकर उसकी स्वाभाविक श्री को यथासाध्य विलुप्त कर दिया। सुभा की दोनों आंखों से अश्रु झर रहे थे; कहीं आंख फूलने पर अच्छी नज़र न आए यह सोचकर उसकी मां सुभा को घुड़क रही थी, किन्तु अश्रुजल कहीं रोके रुकते हैं?

बंधुओं के साथ दूल्हा स्वयं कन्या देखने आए हैं––कन्या के मां-बाप चिन्तित हैं मानो देवता स्वयं अपने बलिदान का पशु पसन्द करने आए हैं। मां ने नेपथ्य से सुभा को डरा-धमकाकर, समझा-बुझाकर परीक्षक के सामने भेज दिया। बालिका की आंखों से अश्रुस्रोत उमड़ रहा था। परीक्षक बहुत

देर देखने के बाद बोले—"ठीक है !"

बालिका का क्रन्दन देखकर परीक्षक ने यह समझा कि इसके हृदय है और सोचा कि जो हृदय आज मां-बाप से विच्छेद की सम्भावना से व्यथित हो उठा है, वही थोड़े दिनों बाद मेरे व्यवहार में आ जाएगा।—शुक्ति की मुक्ता की तरह बालिका के अश्रुजल ने केवल उसके मूल्य को ही बढ़ा दिया, उसकी ओर से और कुछ नहीं बोले।

शुभ मुहूर्त पर ब्याह हो गया।

गूंगी लड़की को दूसरों के हाथ सौंपकर मां-बाप गांव लौट गए। उनकी जाति और परलोक की रक्षा हुई। वर पश्चिम में काम करता है। इसलिए ब्याह के अनतिविलम्ब स्त्री को लेकर पश्चिम चला गया। एक सप्ताह के भीतर सभी समझ गए कि नववधू गूंगी है। यह उसका दोष नहीं है, यह किसीने नहीं सोचा। उसने किसीको धोखा नहीं दिया है—उसकी आंखों ने सारी बातें पहले ही कह दी थीं, किन्तु कोई समझ नहीं पाया था। वह चारों ओर देखती—कुछ कहने के लिए उसके पास भाषा नहीं थी—जो लोग वाक्हीन की भाषा समझते थे, उन आजन्म परिचितों का मुंह उसे दिखाई नहीं पड़ता था। बालिका के चिरनीरव हृदय में एक अव्यक्त क्रन्दन बज रहा था, जिसे केवल अन्तरात्मा को छोड़कर और कोई नहीं सुन सकता था।

इस बार उसके पति ने अच्छी तरह देख-भालकर एक भाषा-विशिष्ट कन्या से ब्याह किया।

कंकाल

हम तीन बालसाथी जिस घर में शयन करते थे उसकी पास वाली कोठरी में एक नर-कंकाल लटकाया हुआ था। रात को हवा में उसके हाड़ एक-दूसरे से टकराकर शब्द करते थे। सुबह हम लोग उन्हीं हाड़ों की परीक्षा करते थे। हम तब एक पंडितजी के पास 'मेघनाद वध' काव्य और कैम्बल स्कूल के एक छात्र के निकट अस्थिविद्या पढ़ते थे। हमारे अभिभावक की इच्छा थी कि वे हम लोगों को सहसा सर्वविद्या में पारदर्शी करके रहेंगे। उनका यह अभिप्राय कहां तक सफल हुआ था यह बात, जो हमें जानते हैं, उनसे कहना बाहुल्य है और जो हमें नहीं जानते हैं उनसे छिपाना ही श्रेयस्कर है।

इसके बाद बहुत दिन बीत गए। इस बीच उस कोठरी से कंकाल और हमारे दिमाग से अस्थिविद्या कहां स्थानान्तरित हो गए, ढूंढ़ने पर भी इनका पता नहीं चलेगा।

कुछ दिन हुए, एक दिन रात को किसी कारण से अन्यत्र स्थानाभाव के कारण मुझे उस कोठरी में ही सोना पड़ा। उस कोठरी में मुझे सोने का अभ्यास नहीं था

इसलिए नींद नहीं आ रही थी। करवटें लेते-लेते गिरजे की घड़ी में लम्बे-लम्बे सारे घण्टे बज गए। इसी समय घर के भीतर जो दीपक जल रहा था वह बुझ गया। इसके पहले हमारे घर में दो-एक दुर्घटनाएं हुई थीं। दीप-शिखा के बुझते ही मृत्यु की बात मन में उदित हुई। मैंने सोचा, रात के दूसरे पहर में एक दीप-शिखा चिरान्धकार में खो गई, प्रकृति के पास यह जैसी तुच्छ घटना है, मनुष्य की छोटी-छोटी प्राणशिखा कभी दिन में कभी रात में हठात् बुझकर विस्मृत हो जाती है, यह भी वैसी ही घटना है।

क्रमशः उस कंकाल की याद आई। उसके जीवित काल की कल्पना करते-करते सहसा ऐसा लगा कि एक चेतन पदार्थ अंधेरे में कोठरी की दीवारों को टटोलता हुआ मेरी मसहरी के चारों ओर घूम रहा है। उसके स्वांस का शब्द मैं स्पष्ट सुन रहा था। वह मानो कुछ ढूंढ़ रहा हो, और उसे उसकी ईप्सित् वस्तु नहीं मिल रही हो। स्पष्ट समझ गया कि यह सब मेरे निद्राहीन उष्ण मस्तिष्क की कल्पना है। किन्तु फिर भी शरीर रोमांचित हो उठा। बलपूर्वक इस अकारण भय को तोड़ने के लिए बोला—"कौन है?"—पद-शब्द मेरी मसहरी के पास आकर रुक गए और एक उत्तर सुनाई पड़ा—"मैं हूं। मेरा वह कंकाल कहां गया, उसे ढूंढ़ने आई हूं।"

मैंने सोचा, अपनी काल्पनिक सृष्टि के सामने डरना भी कोई बड़ी बात नहीं है। तकिये को अंक में भरकर चिरपरिचित के सहज स्वर में बोला—"इतनी रात को यह

तुमने अच्छा काम ढूंढ़ निकाला है। किन्तु, वह कंकाल अब तुम्हारे क्या काम आएगा ?"

अंधेरे में मसहरी के अत्यन्त नज़दीक से उत्तर मिला--"कहते क्या हो ? मेरी छाती का हाड़ जो उसमें था। मेरा छब्बीस वर्ष का यौवन उसीके चारों ओर ही तो विकसित हुआ था। क्या उसे एक बार देखने की इच्छा न होगी ?"

मैं तुरन्त बोला--"ठीक है। तो तुम ढूंढ़ो, मैं सोने की चेष्टा करूं।"

वह बोली--"तुम अकेले हो ? तो थोड़ी देर बैठ जाऊं। थोड़ी बातें की जाएं। पैंतीस वर्ष पहले मैं भी मनुष्य के पास बैठकर मनुष्य की सी बातें किया करती थी। इन पैंतीस वर्षों तक मैं श्मशान की हवा में बहती रही हूं। आज तुम्हारे पास बैठ फिर एक बार मनुष्य की तरह बातें करना चाहती हूं।"

मैंने अनुभव किया कि मानो कोई मेरी मसहरी के पास बैठ गया। निरुपाय होकर मैं उसे उत्साहित करने के लिए बोला—"यही अच्छा रहेगा। जिससे मन प्रफुल्लित हो उठे, ऐसी कोई कहानी कहो।"

वह बोली--"सबसे मज़े की बात सुनना चाहते हो तो मैं अपने जीवन की कहानी कहूं ?"

गिरजे की घड़ी में दो बजने की आवाज़ हुई।

"जब मनुष्य थी और छोटी थी तो एक व्यक्ति से यम की तरह भय करती थी। वे मेरे स्वामी थे। विवाह के दो महीने बाद मेरे स्वामी की मृत्यु हो गई और मेरे आत्मीयों

ने मेरी ओर से बहुत विलाप-प्रलाप किए। मेरे ससुर ने बहुत-से लक्षण मिलाकर मेरी सास से कहा—'शास्त्र में जिसे विषकन्या कहते हैं, यह लड़की वही है।'

"वह बात मुझे स्पष्ट याद है—सुन रहे हो? कैसी लग रही है कहानी?"

मैंने कहा—"ठीक है। कहानी का आरम्भ तो अच्छा है।"

"तो सुनो, आनन्द से पिता के घर लौट आई। क्रमशः मेरी उम्र बढ़ी। लोग मुझसे दूर रहने की कोशिश करते। किन्तु मैं जानती थी कि मुझ जैसी रूपसी ऐसे ही जहां-तहां नहीं मिलतीं—तुम्हारी क्या राय है?"

"खूब, संभवतः तुम ऐसी ही रही होगी! किन्तु मैंने तो तुम्हें देखा नहीं है।"

"देखा नहीं है? क्यों, मेरा वह कंकाल? किन्तु मैं तुमसे मज़ाक कर रही हूं। यह कैसे प्रमाणित करूं कि उन शून्य चक्षुकोटरों में बड़ी-बड़ी दो काली आंखें थीं और रंगीन ओठों पर जो मृदु मुस्कान थी अब के अनावृत दन्तसार के विकट हास्य के साथ उसकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। उन कुछ अस्थियों से ऊपर इतना लालित्य, इतना लावण्य, यौवन की इतनी परिपूर्णता प्रतिदिन प्रस्फुटित हो रही थी कि तुमसे वह साफ कहते हुए मुझे हंसी भी आती है और क्रोध भी। मेरे शरीर से अस्थिविद्या सिखाई जा सकती है, यह बात उस समय बड़े-बड़े डाक्टर भी विश्वास नहीं करते थे। मैं जानती हूं, एक डाक्टर ने अपने किसी विशिष्ट मित्र के निकट

मुझे कनकचम्पा कहा था। उसका अर्थ यह है कि पृथ्वी के और सारे मनुष्यों के देह अस्थिविद्या और शरीरतत्त्व के दृष्टान्त-स्थल थे, केवल मैं ही सौंदर्यरूपी फूल की तरह थी। कनक-चम्पा के भीतर क्या कोई कंकाल भी होता है ?

"मैं जब चलती थी तो ऐसा लगता था कि एक खंड हीरे को हिलाने से उसमें से जैसे ज्योति निकलती हो। मेरी देह की प्रत्येक गति में सौन्दर्य की भंगिमा नाना स्वाभाविक हिल्लोलें लेती हुई चारों ओर बह जातीं। मैं कभी-कभी अपने दोनों हाथों को बहुत देर तक देखती—पृथ्वी के सारे उद्धत पुरुषों के मुंह में लगाम लगाकर मधुर भाव से उस लगाम को संभालकर रखने वाले दो हाथ !

"किन्तु मेरा वह निर्लज्ज, निरावरण, निराभरण, चिरवृद्ध कंकाल मेरे विरुद्ध झूठी गवाही दे गया है। मैं तब निरुपाय, निरुत्तर थी। इसलिए पृथ्वी पर सबसे अधिक मैं तुमसे नाराज़ हूं। मेरी इच्छा होती है कि अपना वह सोलह वर्ष का ज्वलन्त, यौवनताप से उत्तप्त आरक्त रूप तुम्हारी आंखों के सामने खड़ा कर दूं, तुम्हारी आंखों की नींद को दूर भगा दूं, तुम्हारी अस्थिविद्या को अस्थिर करके नष्ट कर दूं।"

मैंने कहा—"तुम्हारे यदि देह होती तो उसे स्पर्श करके कहता कि वह विद्या अब मुझे याद तक नहीं है। और तुम्हारा भुवनमोहन रूप तो अंधकार के तट पर जाज्वल्य-मान होकर फूट पड़ा है। इससे अधिक नहीं कहना होगा।"

"मेरी कोई संगिनी नहीं थी। भैया प्रतिज्ञा किए थे कि ब्याह नहीं करेंगे। अन्तःपुर में मैं अकेली थी। बगीचे के

गाछ के नीचे बैठकर मैं सोचती, सारी पृथ्वी मुझसे ही प्रेम कर रही है। आकाश के तारे मुझे ही देख रहे हैं। हवा बहाना करके बार-बार दीर्घ स्वांस फेंकती हुई चली जा रही है और जिस तृणासन पर मैं पैर रखकर बैठी हूं, उसमें यदि चेतना होती तो वह पुनः अचेतन हो जाता। पृथ्वी के सारे युवा पुरुष उन तृणपुंज के रूप में दल बांधकर निस्तब्ध मेरे चरणवर्ती होकर खड़े हैं। इस तरह मैं कल्पना करती और हृदय अकारण ही एक वेदना का अनुभव करता।

"भैया के मित्र शशिशेखर जब मेडिकल पास करके आए तो हमारे ही घर डाक्टर हो गए। मैंने पहले भी उसे अनेक बार आड़ से देखा था। भैया अत्यन्त अद्भुत प्रकृति के थे। दुनिया को पूरी नज़रों से नहीं देखते थे। मानो दुनिया में उनके लिए स्थानाभाव हो, इसलिए सरकते-सरकते एकदम एकान्त प्रान्त में आकर आश्रय लिया है।

"उनके मित्रों में एक शशिशेखर ही था। इसलिए बाहर के अन्य युवकों में शशिशेखर को ही अधिक देखती थी। और जब संध्या को पुष्प-तरुओं के नीचे सम्राज्ञी का आसन लेती तो पृथ्वी के सारे पुरुष मेरे सामने शशिशेखर का रूप धरकर आ जाते।—सुन रहे हो? क्या सोच रहे हो?"

मैंने सनिश्वास उत्तर दिया—"सोच रहा हूं, शशिशेखर होकर जन्म लेता तो ठीक रहता।"

"पहले सारी कहानी तो सुन लो। एक दिन बादल छाए हुए थे। उसी दिन मुझे बुखार हो गया। डाक्टर देखने आए। वही प्रथम देखना था।

" मैं खिड़की की ओर मुंह किए हुए थी, जिससे कि संध्या की लाल आभा पड़कर मेरे खिन्न चेहरे की विवर्णता दूर कर दे। डाक्टर ने जब कमरे में आकर मेरे चेहरे की ओर देखा तो मैं मन ही मन डाक्टर बनकर अपना चेहरा देखने की कल्पना करने लगी। संध्यालोक के समय कोमल तकिये पर ईषत् क्लिष्ट कुसुमपेलव एक मुख; असंयमित चूर्ण-कुन्तल ललाट पर आकर पड़े हैं और लज्जा से आनमित बड़ी-बड़ी आंखों के पल्लव कपाल पर छाया विस्तार किए हुए हैं।

" डाक्टर नम्र मृदुस्वर में भैया से बोले—'एक बार हाथ देखना होगा।'

" मैंने अपना क्लान्त सुकोमल हाथ बाहर निकाल दिया। एक बार अपने हाथ की ओर देखा, यदि नीले वर्ण की कांच की चूड़ियां पहने रहती तो और भी सुन्दर लगती। रोगी के हाथ की नाड़ी देखते समय डाक्टर को इतनी घबराहट कभी नहीं हुई। अत्यन्त असंलग्न भाव से कम्पित अंगुलियों से नाड़ी देखी। उन्होंने मेरे बुखार के उत्ताप को भांप लिया; मैं भी, उनके अन्तर की नाड़ी किस वेग से चल रही है, उसका कुछ आभास पा गई। विश्वास नहीं हो रहा है ? "

मैंने कहा—"अविश्वास का कोई कारण तो नहीं देख रहा हूं—मनुष्य की नाड़ी सर्वदा एक तरह से नहीं चलती है।"

" इसी तरह दो-चार रोग और आरोग्य पाकर मैंने देखा कि उस संध्या को मेरी मानस-सभा के करोड़ों पुरुषों की संख्या आज एकाकी में आ गई है। मेरी पृथ्वी प्रायः जनशून्य हो गई थी। वहां अब केवल मैं छिपकर प्रतिदिन संध्या को वासन्ती

रंग की साड़ी पहना करती थी। अच्छी तरह वेणी गूंथकर वहां फूलों की माला लगाती थी और एक शीशा लेकर बगीचे में जाकर बैठ जाती थी।

"क्यों ? अपने को बार-बार देखकर भी क्या परितृप्ति नहीं होती है ? वास्तव में ऐसा ही होता है। क्योंकि मैं तो अपने-आपको नहीं देखती थी। मैं तब अकेली दो प्राणी हो जाती। मैं डाक्टर होकर अपने को देखकर मुग्ध होती, प्यार करती, स्नेह करती; किन्तु भीतर ही भीतर एक दीर्घ निःश्वास संध्या की हवा की तरह बहता रहता।

"तभी से मैं अकेली नहीं थी। जब चलती तो नतनेत्रों से अपने पैर की अंगुलियों की ओर देखती और सोचती कि ये पदक्षेप डाक्टर को कैसे लगते होंगे। दोपहर को सफेद चद्दर बिछाकर मैं अपना बिछौना करती और उसपर शयन करती; एक अनावृत हाथ निकालकर सोचती, इस हाथ की यह भंगिमा मानो कोई देख पाया है, मानो किसीने दोनों हाथों से उठा लिया है और इसके आरक्त करतल पर अपना चुम्बन रखकर धीरे-धीरे चला जा रहा है।—सोच लो कि यदि यहीं कहानी का अन्त होता हो तो कैसा रहे।"

मैंने कहा—"बुराई क्या है ? थोड़ी-सी असम्पूर्णता ज़रूर रह जाती है जिसे अपने मन में सोचते-सोचते बाकी रात कट जाएगी।"

"किन्तु ऐसा होने पर कहानी बहुत गम्भीर हो जाती है। इसका उपसंहार कहां रहेगा ?

"इसके बाद सुनो। थोड़े दिन बाद ही डाक्टर ने हमारे

मकान के नीचे तल्ले पर डाक्टरखाना खोल लिया। मैं उससे बीच-बीच में हंसते-हंसते पूछ लेती—किस तरह सहज ही में आदमी मर सकता है, कौन-सा ज़हर कैसा है इत्यादि। डाक्टरी की बात से डाक्टर का मुंह खुल जाता। उससे तरह-तरह की बातें सुनकर मृत्यु मानो परिचित आत्मीय की तरह हो गई। प्रेम और मृत्यु—बस, इन्हें ही पृथ्वीमय देखती थी।

"मेरी कहानी प्रायः शेष हो आई है, अब अधिक नहीं है।"

मैंने धीरे से कहा—"रात भी अब अधिक नहीं है।"

"कुछ दिनों से मैंने देखा कि डाक्टर अन्यमनस्क रहते और उदास भी। एक दिन देखा, उन्होंने सज-धजकर भैया से उनके उपानह उधार लिए, रात को कहीं जाएंगे।

"मैं रह नहीं सकी। भैया के पास जाकर बहुत-सी बातों के बाद पूछा—'भैया, डाक्टर बाबू आज कहां जा रहे हैं?'

"भैया ने संक्षेप में कहा—'मरने।'

"मैंने कहा—'नहीं, सच बताओ न।'

"उन्होंने पहले से थोड़ा साफ कहा—'विवाह करने।'

"मैंने कहा—'सच।' और हंसने लगी।

"धीरे-धीरे मालूम हुआ कि इस विवाह से डाक्टर को बारह हज़ार रुपये मिलेंगे।

"किन्तु मुझसे यह बात छिपाकर मेरा अपमान करने का क्या अर्थ होता है? मैं क्या उसके पैरों पर गिर यह बोली थी कि ऐसा करने से मैं मर जाऊंगी? पुरुषों का विश्वास नहीं

किया जा सकता। पृथ्वी पर मैंने केवल एक ही पुरुष को देखा है और एक मुहूर्त में उनके बारे में सब कुछ जान लिया है।

"डाक्टर रोगी को देखकर संध्या को लौट आए तो मैंने हंसते-हंसते कहा––'क्या डाक्टर जी, आज आपकी शादी है?'

"मेरी हंसी देखकर डाक्टर केवल हतबुद्धि ही नहीं विवर्ण भी हो गए।

"मैंने पूछा, 'बाजा-गाजा कुछ नहीं है?'

"सुनकर उन्होंने ईषत् स्वांस लेकर कहा––'ब्याह का मामला इतना आनन्द का थोड़े ही है।'

"सुनकर मैं हंसती-हंसती लोट-पोट हो गई। ऐसी बात तो कभी नहीं सुनी। मैं बोली––'यह नहीं होगा, बाजा और रोशनी ज़रूर चाहिए।'

"मैंने तब भैया को इतना अस्थिर कर दिया कि वे सम्पूर्ण उत्सव का आयोजन करने लगे।

"मैं केवल बातें करती रही कि बहू आएगी तो क्या करूंगी इत्यादि। डाक्टर से पूछा––'अच्छा, डाक्टर साहब, तब भी क्या आप रोगियों की नाड़ी देखते फिरेंगे?'

"यद्यपि मनुष्य का मन दृष्टिगोचर नहीं होता, फिर भी मैं सौगंध खाकर कह सकती हूं कि ये शब्द डाक्टर के हृदय में सेल की तरह चुभे थे।

"लग्न रात में था। संध्या के समय छत पर भैया के साथ डाक्टर थोड़ा मद्यपान कर रहा था। दोनों को ही इसका अभ्यास था। धीरे-धीरे आकाश में चन्द्र उदित हो रहा था।

" मैंने हंसते-हंसते कहा—'भूल गए क्या डाक्टर साहब, यात्रा का समय जो हो गया ?'

" यहां सामान्य कुछ कहना आवश्यक है। इस बीच छिपकर डाक्टरखाने से थोड़ा-सा पाउडर उठा लाई थी। वही पाउडर मैंने डाक्टर के गिलास में अलक्षित रूप से मिला दिया था। कौन-सा पाउडर खाने पर आदमी मर जाता है, यह मैं डाक्टर से सीख चुकी थी।

" डाक्टर एक घूंट में गिलास खाली करके किंचित आर्द्र गद्गद कण्ठ से मेरी ओर मर्मान्तक दृष्टिपात करके बोले—'तो, चलता हूं।'

" बंसी बजने लगी। मैंने बनारसी साड़ी और सारे गहने पहनकर मांग का सिंदूर भरा। वकुलतला में जाकर बिछौना बिछाया।

" बड़ी सुन्दर रात थी। परिपूर्ण चांदनी। सुप्त जगत् की क्लान्ति हरण करके दक्षिण हवा बह रही थी। फूलों की गन्ध से सारा बगीचा सुगन्धित था।

" बंसी का शब्द जब दूर चला गया, चन्द्रिका जब अंधकार में डूब गई, पृथ्वी जब माया की तरह अदृश्य होने लगी, तो मैं नेत्र निमीलन करके हंसी थी।

" इच्छा थी कि लोग आकर अब देखेंगे तो यह हंसी रंगीन नशे की तरह मेरे ओठों पर रहेगी। इच्छा थी कि जब मैं अनन्त रात्रि के वासर घर में धीरे-धीरे जाऊंगी तब भी यह हंसी ओठों पर ले जाऊंगी। किन्तु कहां वह वासर घर, कहां वह मेरा विवाह का वेश ! अपने भीतर खट्खट्

आवाज़ सुनकर जागकर देखा, मुझे लेकर तीन बालक अस्थि-विद्या सीख रहे हैं। हृदय का वह स्थान जहां सुख-दुःख धक्-धक् किया करते थे और यौवन की कली खिलती थी, वहां बेंत-निर्देश करके किसी अस्थि का नाम मास्टर सिखा रहा था। और वह अन्तिम हंसी जो ओठों पर थी, उसका क्या कोई चिह्न भी देखा था ?…

" कहानी कैसी लगी ? "

मैंने कहा—"कहानी बहुत अच्छी है।"

इसी समय पहला कौवा बोला। मैंने पूछा, "अब भी हो क्या ?" कोई उत्तर नहीं मिला। प्रभात के आलोक ने घर के भीतर प्रवेश किया।

समस्या का अन्त

झिकड़ाकोटे के कृष्णगोपाल सरकार अपने बड़े लड़के को ज़मींदारी और परिवार का भार देकर काशी चले गए। गांव के जितने अनाथ, दरिद्र लोग थे वे सभी उनके लिए रोने लगे। ऐसे धर्मात्मा और दानी कलियुग में बिरले हैं, यही बात सभी लोग कहने लगे।

उनके पुत्र विपिन विहारी आधुनिक शिक्षित बी० ए० हैं। वे दाढ़ी रखते हैं, चश्मा लगाते हैं, किसीके साथ अधिक मिलते-जुलते नहीं हैं। वे अतिशय सच्चरित्र हैं—यहां तक कि तम्बाकू भी नहीं पीते, ताश भी नहीं खेलते। उनका चेहरा अत्यन्त भले आदमी जैसा ही है, किन्तु बहुत कड़े स्वभाव के हैं।

उनकी प्रजा ने शीघ्र ही यह बात अनुभव की। वृद्ध ज़मींदार को किसी भी तरह भुलावा दिया जा सकता था, किन्तु इनके पास किसी भी बहाने लगान का एक पैसा भी माफ होने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। निर्दिष्ट दिन के एक दिन इधर-उधर होने का भी उपाय न था।

विपिन विहारी ने ज़मींदारी का काम संभालकर देखा कि उसके पिता ने बहुत-से ब्राह्मणों को बिना लगान के भूमि दे रखो है। कितने लोगों का लगान कम कर दिया है, उसका

हिसाब ही नहीं है। उनके पास कोई यदि किसी वस्तु की प्रार्थना करता तो वे उसे वह वस्तु दिए बिना नहीं रह सकते थे, यह उनका स्वभाव था।

विपिन विहारी बोले—"यह कभी नहीं हो सकता; मैं आधी ज़मींदारी खिराज पर नहीं छोड़ सकता।" उनके मन में निम्न दो युक्तियों का उदय हुआ। प्रथमतः—जो लोग निकम्मों की तरह घर पर बैठकर ज़मीन का उपस्वत्व भोग करके स्फीत हो रहे हैं वे अधिकांश दया के अयोग्य हैं और ऐसा दान देने में केवल आलस्य को ही आश्रय देना होगा।

दूसरी बात यह है कि उनके पितृ-पितामह के समय की अपेक्षा आजकल जीविका अत्यन्त दुर्लभ और दुर्मूल्य हो चुकी है। अभाव बढ़ गए हैं। आजकल भद्र भाव से आत्मसम्भ्रम बचाकर चलने में पहले से चार गुणा खर्चा पड़ता है। अतः उनके पिता ने जिस प्रकार निश्चिन्तता से दोनों हाथों से लुटाया है वैसा अब नहीं किया जा सकता, अब तो गई हुई चीज़ों को लौटाने की चेष्टा करना ही कर्तव्य है।

कर्तव्य-बुद्धि ने उनसे जो कहा वे वही करने लगे। वे एक 'प्रिन्सिपिल' पकड़कर चलने लगे।

घर से जो निकल चुका था वह पुनः धीरे-धीरे लौटने लगा। पिता के बहुत थोड़े दान को ही पूर्ववत् रखा; और जो रखा वह भी चिरस्थायी दान का रूप ग्रहण न करे, इसकी व्यवस्था उन्होंने कर दी।

कृष्णगोपाल काशी में रहकर पत्र द्वारा प्रजा की क्रन्दन-ध्वनि सुन रहे थे—कोई-कोई काशी में उनके पास जाकर रोने

लग जाते। कृष्णगोपाल ने विपिन विहारी को पत्र लिखा कि यह काम ठीक नहीं है।

विपिन विहारी ने उत्तर लिखा—"पहले जैसे दान किया जा सकता था उसी तरह ऊपर की आय भी नाना तरह से होती थी। उस वक्त ज़मींदार और प्रजा के बीच दान-प्रतिदान का सम्बन्ध था। किन्तु आजकल नये-नये कानून बने हैं, जिससे केवल लगान को छोड़कर और कुछ नहीं लिया जा सकता। अतः आजकल के दिनों में मैं अपने प्राप्य की ओर कड़ी दृष्टि न दूं तो क्या रहेगा? अब प्रजा मुझे अतिरिक्त कुछ नहीं देगी, मैं भी प्रजा को अतिरिक्त कुछ नहीं दूंगा—अब हम लोगों में लेन-देन का हिसाब रह गया है। दान करते रहने पर फकीर हो जाना पड़ेगा; सम्पत्ति की रक्षा और कुल-मर्यादा की रक्षा करना कठिन हो उठेगा।"

कृष्णगोपाल समय के इतने परिवर्तन पर अत्यन्त चिन्तित होकर सोचते—'आजकल के लड़के आजकल के उपयुक्त काम कर रहे हैं, हमारा पुराना कानून अब नहीं चलेगा। मैं दूर बैठा यदि हस्तक्षेप करूंगा तो वे कहेंगे, तुम्हारी सम्पत्ति तुम संभालो, हम इसे नहीं संभाल सकते! क्या ज़रूरत है मुझे! ज़िन्दगी के बाकी दिन हरिनाम करके कट जाएं तो ही बहुत कुछ है।'

इस तरह बहुत-से मामले-मुकदमे के बाद विपिन विहारी ने प्रायः सारी ज़मींदारी अपने अधीन कर ली। बहुत-से लोग

डर से ही विपिन बाबू को मानने लगे, किन्तु मिर्जा बीबी का पुत्र अछिमद्धि विश्वास किसी तरह भी विपिन बाबू को नहीं मानता था।

विपिन विहारी का आक्रोश भी उसीपर अधिक था। ब्राह्मण के ब्रह्मत्व का एक अर्थ होता है, किन्तु यह मुसलमान-सन्तान किस प्रकार इतनी सम्पत्ति भोग कर रहा है, यह विपिन विहारी न समझ सके और एक साधारण यवन गांव के स्कूल में थोड़ा लिखना-पढ़ना सीख गया तो किसीकी परवाह ही नहीं करता है।

विपिन पुराने कर्मचारियों से जान पाए कि बड़े ज़मींदार के समय से ही इन्हें अनुग्रह मिलता आया है। किन्तु इस अनुग्रह का विशेष कारण वे निर्णय नहीं कर सके। संभवतः विधवा ने अपना दुखड़ा सुनाकर वृद्ध ज़मींदार को वशीभूत कर लिया था।

किन्तु विपिन इस अनुग्रह को अनुचित मानते थे; विशेषतः इनकी दरिद्र दशा विपिन ने नहीं देखी थी। अब इनकी स्वच्छन्दता देखकर विपिन यह सोचते कि इन्होंने उनके वृद्ध पिता को ठग लिया है।

अछिमद्धि उद्धत प्रकृति का युवक था। वह बोला—"प्राण चले जाएं पर अपना अधिकार एक तिल भी नहीं छोड़ूंगा।"

अछिमद्धि की मां ने बार-बार समझाया कि इतने दिन जिनके अनुग्रह पर जीवित रहे हैं, उनसे वैर करना ठीक नहीं है। उनके अनुग्रह पर ही रहना उचित है—ज़मींदार जब कह रहे हैं तो थोड़ा-सा अधिकार छोड़ देने में कोई हर्ज नहीं है।

अछिमद्धि बोला—"तुम यह सब नहीं समझोगी।"

मुकदमे में अछिमद्धि धीरे-धीरे हारने लगा। किन्तु जैसे-जैसे हार रहा था वैसे ही उसकी ज़िद भी बढ़ रही थी। अपने सर्वस्व के लिए उसने सर्वस्व-व्यय का प्रण कर लिया।

मिर्जा बीबी एक दिन शाम को अपने बगीचे की कुछ साग-सब्ज़ी लेकर छिपकर विपिन विहारी से मिलने गई। वृद्धा मानो अपनी सकरुण मातृदृष्टि द्वारा विपिन के सर्वांग में हाथ फेरकर बोली—"अल्ला तुम्हारा भला करे बेटा! अछिम का अहित मत करो, इसमें तुम्हारा धर्म नहीं है। उसे मैं तुम्हारे हाथ ही सौंपती हूं—उसे नितान्त अवश्य पालने योग्य एक अकर्मण्य छोटे भाई की तरह ग्रहण करो—उसे तुम्हारे असीम ऐश्वर्य का एक कण मिला है, इससे तुम उसपर रुष्ट मत होना बेटा।"

वृद्धा की यह प्रगल्भता विपिन को अच्छी नहीं लगी। बोले—"तुम स्त्री हो, यह सब नहीं समझोगी। यदि कुछ कहना है तो अपने बेटे को भेज देना।"

मिर्जा बीबी ने अपने बेटे से और विपिन से भी यही सुना कि वह इस विषय में कुछ नहीं जानती है। अल्ला का नाम लेती-लेती विधवा आंखें पोंछती हुई घर चली गई।

मुकदमा फौजदारी कोर्ट से दीवानी कोर्ट, ज़िले की अदालत से हाईकोर्ट तक चला। डेढ़ वर्ष तक मामला चलता रहा। अछिमद्धि जब ऋण में आकंठ डूब गया तो अदालत

में उसकी आंशिक जीत हुई। किन्तु बाघ के मुंह से जितना बचा, पानी के मगर ने उसे छीन लिया। कर्ज़दारों ने डिग्री जारी कर दी। अछिमद्धि की सारी सम्पत्ति नीलाम होने की तारीख स्थिर हो गई।

उस दिन सोमवार था, हाट का दिन। नदी के तीर पर बाज़ार लगता था। वर्षाकाल में नदी भरी हुई है। कुछ लोग नाव से, कुछ लोग पैदल बाज़ार में लेन-देन कर रहे हैं। आषाढ़ के महीने में कटहल काफी आया है। आकाश में बादल छाए हुए हैं; बहुत-से लोगों ने वर्षा की संभावना देखकर खूंटी लगाकर उसपर कपड़ा बांध दिया है। अछिमद्धि भी बाज़ार करने आया है—किन्तु साथ में एक भी पैसा नहीं है। आज-कल उसे कोई उधार भी नहीं देता। वह एक कटोरी और एक पीतल की थाली लेकर आया है, उन्हें बंधक रखकर उधार लेगा।

विपिन बाबू शाम को हवाखोरी के लिए निकले हैं। साथ में दो-तीन लठैत भी हैं। कलरव से आकर्षित होकर वे बाज़ार देखने के लिए इच्छुक हुए।

बाज़ार के भीतर जाकर विपिन बाबू द्वारी कलू से उसके आय-व्यय का हिसाब पूछ रहे थे कि ऐसे समय अछिमद्धि कटोरी उठाकर शेर की तरह गरजता हुआ विपिन बाबू की ओर दौड़ पड़ा। हाट के लोगों ने बीच ही में उसे पकड़कर निरस्त्र कर दिया—अविलम्ब पुलिस के हाथ उसे सौंप भी दिया गया। बाज़ार में लेन-देन पूर्ववत् चलने लगा।

विपिन बाबू इस घटना से खुश हुए, ऐसी बात नहीं

थी। हम जिसका शिकार करना चाहते हैं वही पंजा उठाकर मारने आने लगे तो उसकी यह बे-ज़ब्तगी और बे-अदबी किसी तरह भी बर्दाश्त नहीं की जा सकती। जो भी हो, जैसा कर्म वैसा फल !

विपिन की अन्तःपुर की स्त्रियां आज की घटना सुनकर कंटकित होकर बोलीं—"अरी मां, कितना हरामज़ादा और दुष्ट है !"

उसके उचित दंड की सम्भावना से उन्हें सान्त्वना मिली।

इधर सन्ध्या के समय विधवा के अन्नहीन, पुत्रहीन गृह में मृत्यु की अपेक्षा भी घोर अन्धकार उतर पड़ा। इस घटना को सभी भूल गए। केवल एक वृद्धा के निकट पृथ्वी की सारी घटनाओं में आज की घटना सर्वापेक्षा बृहत् हो उठी। किन्तु इसके साथ युद्ध करने के लिए सारी पृथ्वी पर उसका कोई नहीं है, केवल दीपहीन कुटीर के प्रान्त पर जीर्णअस्थि और एक हतश्वास भीत हृदय था।

इस बीच तीन दिन कट गए। कल डिप्टी मैजिस्ट्रेट की अदालत में विचार का दिन है। विपिन को भी गवाही देने के लिए जाना पड़ेगा। इसके पहले ज़मींदार को कभी भी साक्ष्य-मंच पर खड़ा नहीं होना पड़ा था। किन्तु विपिन को इसमें आपत्ति नहीं है।

दूसरे दिन यथासमय पगड़ी बांधकर, घड़ी की चेन झुलाकर, पालकी पर चढ़कर विपिन अदालत में गवाही देने

के लिए गए। अदालत में आज बहुत भीड़ थी। ऐसा मामला बहुत दिनों से पेश नहीं हुआ था।

अब मुकदमे की सुनवाई में अधिक विलम्ब नहीं था; तभी एक लठैत ने आकर विपिन बाबू के कान में कुछ कहा। सुनकर वे उठकर बाहर चले गए।

बाहर आकर देखा, कुछ दूर पर बड़ के पेड़ के नीचे उसके वृद्ध पिता खड़े हैं। नंगे पैर, तन पर नामावली अंकित एक चद्दर, हाथ में हरिनाम की माला, कृश देह, मानो स्निग्ध ज्योतिर्मय हैं। उनके ललाट से एक शान्त करुणा विश्व में विकीर्ण हो रही है।

विपिन ने कोट-पतलून पहनी हुई अवस्था में बड़े कष्ट से अपने पिता को प्रणाम किया। इससे उनकी पगड़ी नीचे की ओर सरक आई, घड़ी जेब से निकलकर बाहर आ गई। उन्हें जल्दी से ठीक करके पिता को निकटवर्ती वकील के घर में जाने के लिए कहा।

कृष्णगोपाल बोले—"नहीं, मेरा जो वक्तव्य है वह यहीं कहूंगा।"

विपिन के लठैतों ने कुतूहली लोगों की भीड़ को दूर किया।

कृष्णगोपाल बोले—"अछिम को जिससे मुक्ति मिले उसकी व्यवस्था करनी होगी और उसकी जो सम्पत्ति तुमने छीनी है, वह लौटा देना।"

विपिन ने विस्मित होकर कहा—"इसीके लिए आप काशी से इतनी दूर आए हैं? उसपर इतना अनुग्रह किस-

लिए है ?"

कृष्णगोपाल बोले–"वह सुनकर तुम्हें क्या फायदा होगा ?"

विपिन बोले––"अयोग्यता का विचार करके कितनों का दान लौटा लिया है, कितने ही ब्राह्मण भी इनमें थे, किन्तु उनके लिए आपने हस्तक्षेप नहीं किया––और आज इस सामान्य यवन सन्तान के लिए इतना कष्ट किया ! आज इतना करने के बाद यदि अछिम को खलास करवाना पड़े और सम्पत्ति लौटानी पड़े तो लोग क्या कहेंगे ?"

कृष्णगोपाल कुछ देर तक चुप रहे। अन्त में उत्कम्पित अंगुलियों से माला फेरते हुए बोले––"लोगों को यदि सब कुछ खोलकर कहना चाहते हो तो कह देना कि अछिमद्धि तुम्हारा भाई लगता है, मेरा पुत्र है।"

विपिन चौंककर बोले––"यवनी के गर्भ से !"

कृष्णगोपाल बोले––"हां।"

विपिन बहुत देर तक स्तब्ध खड़े रहे। फिर बोले––"ये सब बातें पीछे होंगी, अभी आप घर चलिए।" कृष्णगोपाल बोले––"नहीं, मैं तो अब घर में पैर नहीं रखूंगा। मैं यहां से लौटकर जा रहा हूं। अब तुम धर्म के अनुसार जो उचित समझो करो।" यह कहकर आशीर्वाद देकर कृष्णगोपाल चले गए।

विपिन क्या कहें, क्या करें कुछ सोच नहीं पाए। चुप खड़े रहे। किन्तु इतना उनके मन में ज़रूर उदय हुआ कि उस काल की धर्मनिष्ठा ऐसी ही थी। वे शिक्षा और चरित्र में अपने को अपने पिता से बहुत ऊंचा समझ रहे थे। स्थिर किया कि यह

सब एक प्रिंसिपिल न रहने का नतीजा है।

अदालत में जब वे लौटकर आए तो पहरेदारों के बीच शीर्ण, क्लिष्ट, शुष्क, श्वेत ओष्ठाधर, दीप्तनेत्र अछिम खड़ा है। वह विपिन का भाई है।

डिप्टी मैजिस्ट्रेट से विपिन की मित्रता थी। मुकदमा एक प्रकार की खिचड़ी पकाकर ठप हो गया। अछिम भी थोड़े ही दिनों में पूर्वावस्था में लौट गया। किन्तु इसका कारण वह नहीं समझ सका। अन्य लोग भी आश्चर्यचकित हो गए।

मुकदमे के वक्त कृष्णगोपाल आए थे, यह बात सब लोग जान गए। लोगों में कानाफूसी होने लगी। सूक्ष्मबुद्धि वकील सारा मामला समझ गए। रामशरण वकील को कृष्णगोपाल ने अपने पैसों से लिखाया-पढ़ाया था। वह बराबर सन्देह करता था, किन्तु इतने दिनों बाद सम्पूर्ण रूप से समझ सका कि अच्छी तरह से ढूंढ़ने पर सभी साधु पकड़े जा सकते हैं। दुनिया में साधु और असाधु में सिर्फ इतना ही फर्क है कि साधु कपटी होते हैं और असाधु अकपट होते हैं। जो भी हो, कृष्णगोपाल की जगत्-विख्यात दया, धर्म और महत्त्व सिर्फ कपट था, यह सोचकर रामशरण की एक दुर्बोध समस्या का समाधान हुआ और न जाने किस युक्ति के अनुसार कृतज्ञता का बोझ भी मानो उसके कन्धों से उतर गया।

ताश का देश

दूर, समुद्र के बीच, एक द्वीप है। वहां केवल ताश का बादशाह, ताश की बीबी, ताश का इक्का और ताश के गुलाम का राज्य है। दुग्गी, तिग्गी से लेकर नहला-दहला तक के और भी अनेक गृहस्थों का वास है; किन्तु वे उच्चजाति के नहीं हैं। इक्का, बादशाह और गुलाम ये प्रधान वर्ण हैं; नहला-दहला अन्त्यज हैं, ये इनके साथ एकत्र नहीं बैठ सकते। किन्तु इसमें आश्चर्यजनक शृंखला नहीं है। किसकी क्या मर्यादा है यह बहुत पहले से ही स्थिर हो चुका है, एक रत्ती इधर-उधर नहीं हो सकती। सभी अपना-अपना नियमित काम करते जाते हैं—वंशानुक्रम से पूर्ववर्ती लोगों के पदचिह्नों का अनुसरण।

उनका काम विदेशी के लिए समझना एक टेढ़ी खीर है। पहले तो खेल जैसा लगेगा। केवल नियम से चलना, नियम से बैठना, नियम से उठना। अदृश्य हस्त से नियंत्रित होकर चलते हैं। उनके चेहरे पर किसी तरह का भाव-परिवर्तन नहीं होता है। चिरकाल से एक ही भाव की छाप लगी हुई है, मानो आंखें फाड़-फाड़कर देखती हुई कोई तस्वीर हो। बाबा आदम के ज़माने की टोपी और जूतों में भी कोई फर्क नहीं आया है।

कभी भी किसीको चिन्ता नहीं करनी पड़ती है, विवेचना

नहीं करनी पड़ती; सभी कोई निर्जीव भाव से चलते-फिरते हैं; गिरते वक्त निःशब्द गिर जाते हैं और अविचलित मुखश्री को लिए हुए चित होकर आकाश की ओर देखते हैं।

किसीको कोई आशा-अभिलाषा नहीं है, डर नहीं है, चेष्टा नहीं है, विद्या नहीं है। पिंजरे के भीतर जैसे पक्षी छटपटाता है, इन चित्रवत् मूर्तियों के अन्तःकरण में किसी जीवित प्राणी के अशान्त पश्चात्ताप के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते हैं। परन्तु एक समय इन पिंजरों में जीव रहते थे—तब पिंजरा हिलता था और भीतर से डैनों का शब्द और गीत सुनाई देता था, गंभीर अरण्य और आकाश की बात तब याद आती थी।

अब केवल पिंजरे की संकीर्णता और सुशृंखल श्रेणी-विन्यस्त लौहछड़ों को ही अनुभव किया जा सकता है--पक्षी उड़ा है या जीवन्मृत पड़ा है, यह कौन कह सकता है ?

आश्चर्य की स्तब्धता और शान्ति है। परिपूर्ण आराम और सन्तोष है। रास्ते में, घाट में, घर में सभी स्थानों पर सभी लोग सुसंयत और सुविहित हैं—कहीं कुछ शब्द नहीं, द्वन्द्व नहीं, उत्साह नहीं, आग्रह नहीं, केवल नित्य-नैमित्तिक क्षुद्र काम है और क्षुद्र विश्राम है।

समुद्र ने अपनी अविश्राम सुरतान से, तट पर सहस्रों फेन-शुभ्र कोमल करतलों के आघात से सारे द्वीप को मीठी नींद से आच्छन्न कर रखा है—पक्षी माता के फैले हुए नीलपंखों की तरह आकाश दिग्दिगन्त की शान्ति-रक्षा कर रहा है। बहुत दूर, उस पार गहरी नीलरेखा की तरह विदेश का आभास दीख रहा है, यहां से राग-द्वेष का द्वन्द्व-कोलाहल समुद्र को पार

करके नहीं ग्रा सकता।

समुद्र के उस पार उस विदेश में एक दुखिया रानी का लड़का एक राजपुत्र रहता है। वह ग्रपनी मां के साथ समुद्र के किनारे ग्रपनी धुन में बाल्य-जीवन बिता रहा है।

वह ग्रकेला बैठा मन ही मन एक ग्रत्यन्त बृहत् ग्रभिलाषा का जाल बुन रहा है। उस जाल को दिग्‌दिगन्तरों में फैलाकर कल्पना से विराट् जगत् के नये-नये रहस्यों का संग्रह करके ग्रपने द्वार के सामने इकट्ठा कर रहा है। उसका ग्रशान्त चित्त समुद्र के तीर पर ग्राकाश की सीमा पर उस दिगन्तरोधी नील पर्वतमाला के उस पार सर्वदा विचरण करता फिरता है--ढूंढ़ना चाहता है पक्षीराज घोड़ा कहां है, कहां है सर्प की मणि, कहां है पारिजात पुष्प, सोने ग्रौर चांदी की लकड़ी, कहां सात समुद्र, तेरह नदी के उस पार दुर्गम दैत्य-भवन में स्वप्नसंभवा ग्रालोक सुन्दरी राजकुमारी सो रही है।

राजपुत्र पाठशाला में पढ़ने जाता है, पढ़ाई से छुट्टी पाकर सौदागर के पुत्र से देश-विदेश की बातें ग्रौर कोतवाल के पुत्र से ताल-बेताल की कहानी सुना करता है।

रिमझिम-रिमझिम पानी बरसता, मेघ से ग्रंधकार हो जाता तो गृहद्वार पर मां के पास बैठकर राजकुमार समुद्र की ग्रोर देखकर कहता, "मां, खूब दूर देश की कोई कहानी सुनाग्रो।" मां बहुत देर तक अपने बचपन में सुनी हुई किसी ग्रपूर्व देश की ग्रपूर्व कहानी सुनाती। मेंह के झर-झर शब्दों

के साथ उस कहानी को सुनकर राजपुत्र का हृदय उदास हो जाता।

एक दिन सौदागर के पुत्र ने राजपुत्र से कहा—"भाई, पढ़ाई तो खत्म कर चुका हूं, अब देश-भ्रमण के लिए जाऊंगा, तभी तुमसे विदा लेने आया हूं।"

राजा के पुत्र ने कहा—"मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा।"

कोतवाल का पुत्र बोला—"मुझे क्या अकेला ही छोड़ जाओगे ? मैं भी तुम लोगों का साथी हूं।"

राजपुत्र दुखिया मां के पास जाकर बोला—"मां, मैं देश-भ्रमण के लिए जा रहा हूं—अब तुम्हारा दुःख दूर करने का उपाय करके आऊंगा।"

तीनों बन्धु देश-भ्रमण के लिए निकल पड़े।

समुद्र में सौदागर की द्वादश नावें तैयार थीं। तीनों उन-पर चढ़ गए। दक्षिण की हवा से पाल भर गए, नावें राजपुत्र की हृदय-वासना की तरह दौड़ने लगीं। शंखद्वीप में जाकर एक नाव शंख से, चंदनद्वीप में जाकर एक नाव चंदन से, प्रबाल द्वीप में जाकर एक नाव प्रबालों से भरी।

इसके बाद और चार वर्षों में गजदन्त, कस्तूरी, लौंग और जायफल से चार नावें और भरीं, तब सहसा एक भारी तूफान आया।

सारी नावें डूब गईं, केवल एक नाव जिसमें तीनों बन्धु थे, एक द्वीप से जाकर टकराई और खुद टुकड़े-टुकड़े हो गई।

इस द्वीप में ताश का इक्का, ताश का बादशाह, ताश की बेगम, ताश का गुलाम यथानियम रहते हैं और दहला-नहला आदि भी उनकी सेवा करते हुए यथानियम दिन काटते हैं।

ताश के राज्य में अब तक कोई उपद्रव नहीं था। अब पहली बार गड़बड़ी हुई।

इतने दिनों बाद यह पहली बार तर्क उठा—ये तीन आदमी जो सहसा एक दिन शाम को समुद्र से निकलकर आए हैं, इन्हें कौन-सी श्रेणी में रखा जाए।

पहले तो यह सोचना है कि इनकी जाति क्या है—इक्का, बादशाह, गुलाम या नहला-दहला ?

फिर यह सोचना है कि इनका गोत्र क्या है—हुक्म, चिड़ी, पान या ईंट ?

इन बातों के बिना सुलझे इनके साथ किसी तरह का व्यवहार करना ही मुश्किल है। ये लोग किसका अन्न खाएंगे, किसके साथ रहेंगे—इनमें अधिकार-भेद से कौन वायु कोण में, कौन नैऋत्य कोण में, कौन ईशान कोण में सिरहाना करके सोएगा और कौन खड़ा-खड़ा सोएगा, इन सब बातों का कुछ भी निर्णय नहीं होता।

इस राज्य में इतनी बड़ी विषम दुश्चिन्ता का कारण इससे पूर्व कभी नहीं आया था।

किन्तु क्षुधा-कातर तीनों विदेशी बन्धुओं को इस सब गहन मामलों की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उन्हें किसी तरह आहार मिल जाए तो प्राण बचें। जब देखा कि सभी लोग आहारादि देने में संकोच कर रहे हैं और कानून ढूंढ़ने

के लिए इक्कों ने विराट सभा बुलाई है तो वे, जिसे जहां जो खाद्य मिला, खाने लगे।

यह देखकर दुग्गी, तिक्की तक दंग रह गईं। तिक्की बोली, "बहन दुग्गी, इन्हें कोई परहेज़ का विचार नहीं है।" दुग्गी बोली, "बहन, इससे तो साफ मालूम पड़ता है कि ये लोग हमसे भी नीच जाति के हैं।"

भोजन करके तृप्त होकर तीनों मित्रों ने देखा, यहां के लोग कुछ नये ढंग के हैं। मानो जगत् में कहीं भी इनकी जड़ नहीं है। मानो इनकी चोटी किसीने उखाड़ ली है और ये एक तरह से हतबुद्धि होकर जगत् का सम्पर्क त्यागकर झूमते हुए घूम रहे हैं। ये जो कुछ भी करते हैं, वह मानो कोई दूसरा करवा रहा है। इनका हाल ठीक पुतली-नाच की झूलती हुई पुतलियों जैसा है। तभी किसीके मुंह पर कोई भाव नहीं, चिन्ता नहीं; सभी गम्भीर भाव से, यथानियम से चल-फिर रहे हैं। फिर भी, यह सब मिलकर अत्यन्त अद्भुत लगता है।

चारों ओर इस जीवित निर्जीवता को गम्भीरता को देखकर राजपुत्र आकाश की ओर मुंह उठाकर ज़ोर से हंस पड़ा। इस आन्तरिक कौतुक की उच्च हास्यध्वनि ताश-राज्य के सुनसान रास्तों में बड़ी विचित्र सुनाई पड़ी। यहां के सभी लोग इतने प्राचीन, इतने सुगम्भीर हैं कि कौतुक अपने अकस्मात निकले हुए उच्छृंखल शब्दों से स्वयं ही चकित होकर बुझ गया—चारों ओर का लोक-प्रवाह पहले से कहीं दूना स्तब्ध और गम्भीर लगने लगा।

कोतवाल का पुत्र और सौदागर का पुत्र व्याकुल होकर राजपुत्र से बोले—"भाई, इस निरानन्द भूमि पर एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। यहां और दो दिन रहने पर बीच-बीच में अपने को स्पर्श करके देखना पड़ेगा कि ज़िन्दा हूं या नहीं।"

राजपुत्र बोला—"नहीं भाई, मुझे कुतूहल हो रहा है। ये लोग देखने में आदमी जैसे लगते हैं—इनमें एक बूंद भी जीवित पदार्थ है या नहीं, एक बार हिला-डुलाकर देखना चाहता हूं।"

इसी तरह कुछ समय बीता, किन्तु तीनों विदेशी युवक किसी भी नियम के जाल में नहीं आए। वहां जब जिस समय उठना, बैठना, मुंह फेरना, औंधे होना, चित होना, सिर हिलाना, कलाबाज़ी खाना चाहिए, ये उनमें से कुछ नहीं करते, उल्टे सकौतुक देखकर हंसते। इन सब यथाविदित अशेष क्रिया-कलापों में कोई महान् गम्भीरता है, ये लोग उसके द्वारा अभिभूत नहीं होते।

एक दिन इक्का, बादशाह और गुलाम ने आकर, फूटे बासन की तरह बजकर बड़ी गम्भीरता से राजपुत्र, कोतवाल और सौदागर के पुत्र से पूछा—"तुम लोग नियम के अनुसार क्यों नहीं चलते?"

तीनों बन्धुओं ने कहा—"हमारी इच्छा।"

ताश-राज्य के तीनों अधिनायकों ने आश्चर्य से, स्वप्नाभिभूत की तरह कहा—"इच्छा! वह ससुरी कौन है?"

इच्छा क्या है, यह बात वे नहीं समझ सके, किन्तु धीरे-धीरे समझ गए। प्रतिदिन वे देखने लगे कि इस तरह न चलकर उस तरह चलना भी सम्भव है। जैसे इधर है वैसे उधर भी है—विदेश से तीन जीवित दृष्टान्तों ने आकर समझा दिया कि नियम के भीतर ही मनुष्य की सम्पूर्ण स्वाधीनता सीमाबद्ध नहीं हैं। इस तरह वे इच्छा नामक एक राजशक्ति का प्रभाव अस्पष्ट रूप से अनुभव करने लगे।

उसका ज्यों ही अनुभव हुआ, त्योंही ताश-राज्य थोड़ा-थोड़ा आन्दोलित होने लगा—जैसे सोये हुए विशाल अजगर की बहुत-सी कुंडलियों के भीतर जागरण अति मन्दगति से संचालित रहता है।

निर्विकार मूर्ति बेगमों ने आज तक किसीकी ओर दृष्टिपात नहीं किया था, चुपचाप निरुद्विग्न रूप से अपना काम करती आई थीं। अब एक दिन वसन्त की संध्या को इनमें से एक ने अपनी घनकृष्ण बरौनियों को ऊपर उठाकर चकित की तरह राजपुत्र की ओर मुग्ध नेत्रों का कटाक्षपात किया। राज-पुत्र चौंक उठा। बोला, "आश्चर्य! मैं तो जानता था कि ये मूर्तिवत् हैं, मैं गलत समझा—यह तो रमणी है।"

कोतवाल के पुत्र और सौदागर के पुत्र को एकान्त में ले जाकर राजपुत्र बोला—"भाई, इसमें तो बड़ा माधुर्य है। उसके उस नवीन भाव से दीप्त कृष्णनेत्रों के प्रथम कटाक्ष से मुझे ऐसा लगा, मानो मैंने किसी नये जगत् में प्रथम उषा का

प्रथम उदय देखा है। इतने दिनों से जो यहां रह रहा हूं आज वह सार्थक हुआ।"

दोनों बन्धुओं ने परम कुतूहल के साथ हंसते हुए कहा—"सचमुच !"

वह अभागिन पान की बेगम आए दिन नियम भूलने लगी। उसे कानूनन जब जहां हाज़िर होना चाहिए, बार-बार उसका वहां व्यतिक्रम होने लगा। मान लो, जब उसे गुलाम के पास एक पंक्ति में खड़ा होना है तो वह सहसा राजपुत्र के पास जाकर खड़ी हो जाती; गुलाम अविचलित भाव से सुगम्भीर स्वर में कहता—"बेगम, तुम भूल गईं।" यह सुनकर पान की बेगम के स्वाभाविक रक्त-कपोल और भी लाल हो जाते। उसकी निर्निमेष अशान्त दृष्टि नीचे की ओर झुक जाती। राजपुत्र कहता—"कोई भूल नहीं हुई है, आज से मैं ही गुलाम हूं।"

नव-प्रस्फुटित रमणी-हृदय से यह कैसी अभूतपूर्व शोभा, यह कैसा अचिन्तनीय लावण्य विकसित हो रहा है ! उसकी चाल में यह कैसा मधुर चांचल्य है, उसकी दृष्टि में यह कैसी हृदय की तरंग है, उसके सारे अस्तित्व से यह कैसा सुगन्धित आर्त उच्छ्वास उच्छ्वसित हो रहा है।

इस नव अपराधिनी की भूल सुधारने की ओर ध्यान देते हुए अन्य लोगों को भी भ्रम होने लगा है। इक्का अपने समुचित मान की रक्षा करना भूल गया, बादशाह और गुलाम में अब कोई अभेद नहीं रहा, नहला-दहला को भी न जाने क्या हो गया।

इस पुराने द्वीप में वसन्त की कोयल बहुत बार बोली है,

किन्तु इस बार जैसी कभी नहीं बोली। समुद्र सदा से एक-सा ही गीत गाता चला आ रहा है, किन्तु इतने दिनों तक जो सनातन विधान की महिमा एक तान में गाता आया है, आज वह सहसा दक्षिणी हवा से चंचल विश्वव्यापी दुरन्त यौवन-तरंगों की तरह प्रकाश और छाया में, भाव और भाषा से अपनी अथाह व्याकुलता व्यक्त करने की चेष्टा करने लगा।

क्या यह वही इक्का है, वही बादशाह, वही गुलाम हैं? कहां गई इनकी वह परिपुष्ट, परितुष्ट, सुगोल मुखच्छवि? कोई आकाश की ओर देखता है, कोई समुद्र के किनारे बैठा रहता है, किसीको रात को नींद नहीं आती, तो किसीको भोजन नहीं रुचता।

किसीके मुंह पर ईर्ष्या है, किसीके अनुराग, किसीके व्याकुलता, तो किसीके मुंह सशंक हैं। कहीं हंसी है, कहीं रोना है, कहीं संगीत है। सभीकी अपने प्रति और दूसरों के प्रति निगाह पड़ी हुई है। सभी अपने साथ दूसरों की तुलना कर रहे हैं।

इक्का सोच रहा है—युवक बादशाह दीखने में बुरा न सही, किन्तु उसके मुंह पर श्री नहीं है—मेरी चाल-ढाल में ऐसा माहात्म्य है कि किसी-किसो व्यक्ति-विशेष की दृष्टि मुझपर पड़े बिना नहीं रह सकती।

बादशाह सोच रहा है—इक्का हमेशा बड़ी शान से गरदन घुमाकर चलता है, वह सोचता होगा कि उसे देखकर

बेगमों का दिल फटा जा रहा है। यह सोचकर ज़रा तिरछी हँसी हँसकर अपना मुंह दर्पण में देखता है।

सारे देश में जितनी बेगमें थीं सभी खूब शृंगार करतीं और एक-दूसरे के प्रति कहतीं—"अरी मरी क्यों जाती हो! गर्विणी को इतने शृंगार का शौक क्यों है? उसका रंग-ढंग देखकर तो शर्म आती है।"—कहकर दुगने प्रयत्न से हाव-भाव विस्तार करतीं।

कहीं दो सखाओं में तो कहीं दो सखियों में गुप्त बातचीत होती रहती है। कभी रुष्ट होतीं, कभी मान-अभिमान करतीं, तो पीछे मनाने जातीं।

युवक पथ के वृक्ष के नीचे, जमीन पर पड़े सूखे पत्तों पर आलस से पैर फैलाए बैठे रहते। बालाएं सुनील वस्त्र पहने हुए अपने मन में उस छाया-पथ पर आतीं-जातीं और वहां आकर मुंह झुकाकर दृष्टि नीचे कर लेतीं—मानो किसीको नहीं देखा है। मानो किसीको दिखाने नहीं आई हैं, ऐसा भाव दिखाकर चली जातीं।

यह देखकर कोई-कोई पागल युवक दुःसाहस करके जल्दी से नज़दीक जाता, किन्तु मन के अनुकूल एक भी बात याद नहीं आती, अप्रतिभ होकर खड़ा रहता, अनुकूल अवसर सरक जाता और रमणी भी अतीत क्षण की तरह क्रमशः धीरे-धीरे दूर जाती हुई विलीन हो जाती।

सिर पर चिड़िया बोलती रहती, हवा अंचल और अलक उड़ाती हुई सनसनाती हुई चली जाती, तरुपल्लव झर-झर मर-मर करते रहते और समुद्र की अविश्राम उच्छ्वसित ध्वनि

हृदय की अव्यक्त वासना को दुगना बढ़ा देती ।

एक वसन्त में तीन विदेशी युवकों ने आकर सूखी गंगा में ऐसा ही एक भारी तूफान उठा दिया ।

राजपुत्र ने देखा, ज्वार-भाटे के बीच सारा देश स्तब्ध है——किसीके मुंह पर बात नहीं——केवल परस्पर की मुंह देखा-देखी; केवल मन की वासना स्तूपाकार करके बालू के महल बनाना और तोड़ना चल रहा है। सभी मानो घर के कोने में बैठे आग में अपनों को ही आहुति के रूप में दे रहे हैं। और प्रतिदिन कृश और वाक्यहीन होते जा रहे हैं। केवल दोनों नेत्र जल रहे हैं और अन्तर्निहित वाणी के आन्दोलन से ओठ वायु से कम्पित पल्लवों की तरह स्पन्दित हो रहे हैं।

राजपुत्र ने सबको बुलाकर कहा——"बंसी ले आओ, भेरी बजाओ, सभी आनन्द करो, पान की बेगम का स्वयम्बर होगा।"

उसी क्षण नहला-दहला बंसी बजाने लगे, दुक्की-तिक्की ने भेरी वादन किया। हठात् इस विशाल आनन्द-तरंग से वह कानाफूसी और देखा-देखी टूट गई।

उत्सव में एकत्रित नर-नारियों में कितनी बातें, कितनी हंसी और कितना परिहास होने लगा। मज़ाक में मन की बातें हुईं, कपट करके अविश्वास दिखाया गया, उच्च हास्य में बहुत-सी तुच्छ बातें हुईं। घने जंगल में ज़ोर से हवा चलने पर जैसे शाखा-शाखा में, पत्ते-पत्ते में, लताओं और वृक्षों में

परस्पर नाना हाव-भाव से हिलना-मिलना हुआ करता है, इनमें भी उसी तरह होने लगा।

ऐसे कलरव में सुबह से वंशी में बड़े मधुर स्वर में शहनाई राग बजने लगा। आनन्द में गम्भीरता, मिलन में व्याकुलता, विश्व-दृश्य में सुन्दरता, हृदयों में प्रीति की वेदना का संचार हुआ। जिन्होंने अच्छी तरह से प्रेम नहीं किया था, उन्होंने प्रेम किया और जिन्होंने प्रेम किया था वे आनन्द से उदास होगए।

पान की बेगम रंगीन वस्त्र पहनकर एक गुप्त छायाकुंज में बैठी थी। उसके कान में भी दूर से शहनाई की तान आ रही थी और उसकी दोनों आंखें मुदित होती जा रही थीं। सहसा आंखें खोलकर देखा, सामने राजपुत्र बैठा उसकी ओर देख रहा है, उसने कांपकर अपना मुंह दोनों हाथों से ढक लिया और भू-लुण्ठित हो गई।

राजपुत्र सारे दिन नदी के तीर पर घूमता हुआ उस संत्रस्त नेत्रक्षेप और सलज्ज लुण्ठन का अर्थ मन ही मन सोच रहा था।

रात को शत-सहस्र दीपों की रोशनी में, माला की सुगंधि में, वंशी के राग में, अलंकृत सुसज्जित सहास्य श्रेणीबद्ध युवकों की सभा में एक बालिका धीरे-धीरे कम्पित चरणों से माला लेकर राजपुत्र के सामने आकर खड़ी हो गई। वह अभिलषित कंठ तक माला नहीं उठा सकी, न उसके नेत्र अभिलषित मुख

की ओर ही उठ सके। राजपुत्र ने तब अपना सिर झुका लिया और माला स्खलित होकर उसके कण्ठ में आ गई। चित्रवत् निस्तब्ध सभा सहसा आनन्दोच्छ्वास हो अधीर हो उठी।

सबने वर-कन्या को आदर के साथ सिंहासन पर बैठाया।

समुद्र-पार की दुखिया रानी सोने की नाव में बैठकर पुत्र के नव राज्य में आई।

तस्वीरों का दल सहसा मनुष्य बन गया। अब पहले की तरह अविच्छिन्न शान्ति और गाम्भीर्य नहीं है। संसार-प्रवाह ने अपना सुख-दुःख, राग-द्वेष, विपद्-सम्पद् लेकर इस नवीन राजा के राज्य को परिपूर्ण कर दिया है। अब कोई अच्छा है, कोई बुरा है, कोई आनन्दित है, कोई दुःखी है—लेकिन सब आदमी हैं। अब सभी अलंघ्य कानून के अनुसार उदासीन नहीं हैं, परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार साधु और असाधु हैं।

व्यवधान

बहुत हिसाब लगाकर, सम्बन्ध मिलाकर देखने से वनमाली और हिमांशुमाली ममेरे-फुफेरे भाई हैं। इनके दोनों परिवार बहुत दिनों से पड़ौसी हैं। बीच में व्यवधान सिर्फ एक बगीचे का है। इसलिए इनका सम्पर्क नितान्त निकट न होने पर भी इनमें घनिष्ठता का अभाव नहीं।

वनमाली हिमांशुमाली से उम्र में भी बहुत बड़ा है। हिमांशु के जब दूध के दांत नहीं निकले थे और न उसकी वाणी ही फूटो थी तभी से वह उसे इस बगीचे में घुमाने लिवा लाता था और उसके साथ खेलता, वह रोता तो उसे चुप कराता और शिशु हिमांशु के मनोरञ्जन के लिए सब प्रकार की वयसोचित चंचलता प्रकाश करने में वनमाली ने कोई कसर नहीं की थी।

वनमाली विशेष पढ़ा-लिखा नहीं था। उसे बगीचे का शौक था और वह दूर-सम्पर्क का भाई था; इसे ही एक दुष्प्राप्य, बहुमूल्य लता की तरह समझकर हृदय के सारे स्नेह-रस से सिंचन कर रहा था और उसने जब देखा कि उसके सारे हृदय को घेरकर वह लता की तरह ही फैलकर ऊपर चढ़ रहा है तो अपने को धन्य समझा।

ऐसा स्वभाव सचराचर में नहीं देखा जाता है, किन्तु किसी-किसीका स्वभाव ऐसा ही होता है कि एक छोटी-सी कल्पना या एक शिशु अथवा किसी कृतघ्न मित्र के निकट सरलता से अपने को विसर्जन कर देता है। वह इस विपुल पृथ्वी पर एक मात्र छोटे-से स्नेह के कारबार में जीवन का समस्त मूलधन लगाकर निश्चिन्त होकर, समस्त जीवन साधारण रूप से बिता देता है अथवा सहसा एक दिन घर-बार बेचकर फकीर होकर निकल पड़ता है।

हिमांशु जब थोड़ा और बड़ा हुआ तो उम्र और सम्बन्ध में गहरा तारतम्य रहते हुए भी दोनों में मित्रता का बन्धन स्थापित हुआ। ऐसा लगता, दोनों के बीच छोटा-बड़ा कोई नहीं।

ऐसा होने का एक कारण भी था। हिमांशु पढ़ाई-लिखाई से विशेष दिलचस्पी रखता था। जो भी पुस्तक हाथ में आती उसे पढ़ लेता। इससे कुछ फालतू पुस्तकें अवश्य पढ़ गया था लेकिन इस तरह उसके ज्ञान-पिपासु मन की पुष्टि भी होती थी। वनमाली विशेष श्रद्धा से उसकी बातें सुनता। छोटी-बड़ी सभी बातों के लिए उससे परामर्श करता। किसी भी विषय में बालक समझकर अवज्ञा नहीं करता था। हृदय के सर्वप्रथम स्नेहरस से जिसे बड़ा किया, वह यदि बुद्धि, ज्ञान और उन्नत स्वभाव के कारण विशेष श्रद्धा का अधिकारी होता है तो उससे परम प्रिय वस्तु पृथ्वी पर दूसरी नहीं हो सकती।

बगीचे का शौक भी हिमांशु को था। किन्तु इस शौक में

दोनों मित्रों में भेद था। वनमाली का था हृदय का शौक और हिमांशु का बुद्धि का। पृथ्वी के कोमल वृक्ष, लता आदि, ये अचेतन जीवन राशि, जो यत्न की कोई लालसा ही नहीं रखते, लेकिन यत्न पाते ही घर के बच्चों की तरह बढ़ते हैं; जो मानव के भी शिशु हैं, उन्हें पालने की वनमाली में एक स्वाभाविक वृत्ति थी। किन्तु हिमांशु की इनके प्रति कुतूहली दृष्टि थी। अंकुर निकलते हैं, किसलय दिखाई पड़ते हैं, फूल खिलते हैं, इनमें उसे एक विशेष कुतूहल दिखाई देता है।

गाछ के बीज बोने, कलम करने, खाद देने के बारे में हिमांशु नये-नये सुझाव देता, जिन्हें वनमाली अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता। इस बगीचे को लेकर इसकी आकृति-प्रकृति जितनी तरह अदल-बदल की जा सकती थी, दोनों मिल-कर करते।

दरवाज़े के सामने बगीचे में ही एक पक्का चबूतरा था। शाम के चार बजते ही पतला कुर्ता पहनकर, दुपट्टा लेकर हुक्का लिए वनमाली अकेला वहां जाकर बैठ जाता। वक्त काटने के लिए अखबार या अन्य साधन का वनमाली उपयोग नहीं करता था। हुक्का पीते-पीते कभी बाईं ओर कभी दाईं ओर उदास दृष्टिपात करता रहता। इस तरह हुक्के के धुएं की तरह समय भी लघुभाव से उड़ जाता। उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

अन्त में जब हिमांशु स्कूल से आकर जलपान करते दिखाई देता तो जल्दी से हुक्के की नली रखते हुए वनमाली खड़ा हो जाता। उसका आग्रह देखकर यह समझते देर न

लगती कि इतनी देर से वह किसका इन्तज़ार कर रहा था।

इसके बाद दोनों मित्र बगीचे में घूमते और बातें करते। अंधेरा हो जाने पर दोनों बेंच पर आकर बैठ जाते। दक्षिण की हवा पत्तों को आन्दोलित करती हुई बह जाती, कभी हवा न बहती तो वृक्ष चित्र की तरह स्थिर खड़े रहते, ऊपर आकाश में असंख्य तारे जलते रहते।

हिमांशु कहता, वनमाली चुपचाप सुनता। जो उसकी समझ में नहीं आता वह भी अच्छा लगता, जो बातें दूसरों को बे सिर-पैर की-सी लगतीं वही बातें वनमाली को अच्छी लगतीं। और ऐसा वयस्क श्रद्धावान श्रोता पाकर हिमांशु की शक्ति, स्मृति-शक्ति, कल्पना-शक्ति परिपुष्ट होने लगी। वह कुछ तो पढ़कर बोलता और कुछ सोचकर बोलता, कुछ बोलते-बोलते बोल जाता और अधिकांश कल्पना की सहायता से ही ज्ञान का अभाव ढक लेता। कुछ ठीक कहता और कुछ बेठीक भी, किन्तु वनमाली गम्भीर होकर सुनता और बीच-बीच में प्रश्न भी करता। हिमांशु प्रश्नोत्तर में जो समझा देता, वही समझ लेता। और दूसरे दिन चबूतरे पर बैठा हुक्का पीते उनपर विचार करता।

इस बीच एक उपद्रव खड़ा हो गया। वनमाली के बगीचे और हिमांशु के घर के बीच एक पानी जाने का नाला था। उस नाले के एक स्थान पर बिजौरे का एक वृक्ष खड़ा हुआ था। उस वृक्ष के जब फल हुए तो वनमाली के नौकर ने तोड़ने की कोशिश की और हिमांशु के नौकर ने बाधा दी। इस प्रसंग में दोनों ओर से गालियों की जो बौछार हुई, इसमें यदि कोई

वस्तु होती तो उसीसे नाला भर जाता।

वनमाली का बाप हरचन्द्र और हिमांशु का बाप गोकुलचन्द्र भी इस प्रसंग में झगड़ पड़े। दोनों पक्ष वाले निर्णय के लिए अदालत पहुंचे।

वकील-बैरिस्टरों में जितने महारथी थे, दोनों ओर आ गए। तुमुल वाग्युद्ध हुआ। इस युद्ध में जितना रुपया खर्च हुआ, भाद्र मास में उतना पानी उस नाले से नहीं गया होगा। अन्त में विजय हरचन्द्र की ही हुई। अदालत में प्रमाणित हो गया कि वह नाला और गाछ उसीका है। अपील हुई, लेकिन बिजौरे का गाछ हरचन्द्र का ही रहा।

जब तक मुकदमा चलता रहा, दोनों भाइयों के बन्धुत्व में कोई अन्तर नहीं आया। यहां तक कि किसी प्रकार के विवाद की छाया पड़े इस भय से वनमाली अधिक कातरता से हिमांशु को हृदय से आबद्ध करना चाहता था।

जिस दिन अदालत में हरचन्द्र की जीत हुई, उस दिन उसके घर में विशेषकर अन्तःपुर में हर्षोल्लास छा गया। केवल वनमाली की आंखों में नींद न थी। दूसरे दिन वह इस प्रकार बैठा था मानो दुनिया में किसीका कुछ नहीं बिगड़ा है, सिर्फ उसीकी बहुत बड़ी हार हो गई है। उसी दिन शाम को हिमांशु नहीं आया तो वनमाली ने दीर्घ स्वांस छोड़कर हिमांशु के घर की ओर देखा। खुली हुई खिड़की से हिमांशु के स्कूल के कपड़े टंगे हुए दिखाई पड़ रहे थे। साथ ही बहुत-से चिरपरीक्षित लक्षणों को मिलाकर देखा कि हिमांशु घर पर ही है। हुक्का पीना बन्द करके इधर-उधर टहलने लगा। सैकड़ों बार

खुली हुई खिड़की की ओर देखा, लेकिन हिमांशु नहीं दीखा।

सन्ध्या के दीप जलते ही वनमाली हिमांशु के घर गया। गोकुलचन्द्र द्वार के नज़दीक ही बैठे अपने अशान्त चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोले, "कौन है ?"

वनमाली चौंक उठा ! मानो चोरी करने आया था, पकड़ा गया। कम्पित स्वर में बोला, "मैं हूं मामा !"

मामा ने कहा, "किसे ढूंढ़ने आए हो ? यहां कोई नहीं है !" वनमाली पुनः बगीचे में जाकर बैठ गया। ज्यों-ज्यों रात गहरी होती गई, हिमांशु के घर की खिड़कियां और दरवाज़े एक-एक कर बन्द हो गए। दरवाजे के छिद्र से जो क्षीण आलोक आ रहा था वह भी क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होता हुआ विलीन हो गया। रात्रि के अंधकार में वनमाली ने सोचा कि हिमांशु के घर के दरवाज़े उसीके लिए बन्द हो गए हैं। वह वहीं बैठा रहा।

दूसरे दिन बगीचे में आकर वनमाली ने सोचा कि आज हिमांशु आएगा। नित्य प्रतिदिन जो आता था, वह एक दिन नहीं भी आएगा, यह वह सोच नहीं सकता था। उसने यह भी नहीं सोचा था कि यह बन्धन टूट सकता है। वह ऐसे निश्चिन्त मन से रहता कि जीवन के सारे दुःख-सुख न जाने कब उस बन्धन में जकड़े गए; पता ही नहीं चला। आज सहसा मालूम हुआ कि वह बन्धन टूट चुका है। किन्तु एक क्षण के लिए उसका यह बन्धन टूट गया है, इसपर उसका अन्तर विश्वास नहीं करना चाहता था।

प्रतिदिन यथासमय बगीचे में बैठता, यदि दैवयोग से हिमांशु

आ जाए। किन्तु ऐसा ही दुर्भाग्य जो प्रतिदिन नियमित आता था, आज दैवयोग से भी नहीं आया। रविवार के दिन वनमाली ने सोचा, पहले की तरह आज भी सुबह हिमांशु उन्हींके घर आएगा और भोजन करेगा। किन्तु भोजन के वक्त हिमांशु नहीं आया। तब वनमाली ने सोचा, 'भोजन करके ही आएगा।' किन्तु भोजन करके भी नहीं आया।

वनमाली ने फिर सोचा, 'आज भोजन करके सो रहा होगा। उठते ही आएगा।' सोकर हिमांशु कब उठा, यह तो मालूम नहीं, लेकिन वह नहीं आया।

पुनः शाम हुई और रात भी। हिमांशु के घर की बत्तियां बुझ गईं, दरवाजे रुद्ध हो गए।

इस प्रकार सोमवार से लेकर रविवार तक जब सातों दिन दुर्भाग्य ने वनमाली के हाथ से ले लिए, उसकी आशा को आश्रय देने के लिए भी दिन नहीं छोड़ा तो हिमांशु की रुद्ध अट्टालिका की ओर देखकर उसकी कातर अश्रुपूर्ण आंखों ने बड़े अभिमान की नालिश भेजी और जीवन की सभी वेदनाओं को एकत्रित करके केवल एक ही वाक्य में संयत करके बोला—"दयामय!"

शाहज़ादियां

औरंगज़ेब से हारकर शाह शुजा अपनी तीन युवती कन्याओं के साथ आराकान के राजा की शरण में चले गए। शाह शुजा की सुन्दर कन्याओं को देखकर, आराकान (ब्रह्मदेश का एक भाग) के राजा ने सोचा कि क्यों न इनसे अपने राजपुत्रों का विवाह कर दिया जाए। यह प्रस्ताव जब शुजा के सामने रखा गया, तो उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इसलिए एक दिन शुजा को नौका-विहार के बहाने नदी में ले जाया गया और छल द्वारा उनकी नौका डूबो देने का प्रयत्न किया गया। तब निरुपाय शुजा ने अपनी कनिष्ठा कन्या अमीना को जल में फेंक दिया और ज्येष्ठ कन्या ने आत्महत्या कर ली। शाह शुजा का विश्वस्त अनुचर रहमत अली जुलेखा को लेकर तैरता हुआ भाग निकला। शाह शुजा लड़ते-लड़ते मारे गए।

अमीना नदी में बहती हुई संयोग से एक धीवर के जाल में फंस गई। धीवर उसे अपनी कुटिया में ले आया और बड़े स्नेह तथा यत्न से उसे पालने लगा। उसी धीवर की कुटिया में रहकर अमीना बड़ी हुई।

इसी बीच वृद्ध आराकान-नरेश की मृत्यु हो गई और युवराज सिंहासन पर बैठे।

एक दिन सुबह वृद्ध धीवर ने पुकारा—"तिन्नि ! अरी कहां गई ?" धीवर ने आराकानी भाषा में अमीना का नया नाम रखा था।

"क्या है बाबा ?"

"सुबह-सुबह कहां गई थी ?" वृद्ध ने किंचित भर्त्सना के भाव से कहा—"काम-काज में अभी तक हाथ नहीं लगाया। मेरे नये जाल में गोंद भी नहीं लगाया, और मेरी नाव···"

अमीना धीवर के निकट आकर प्यार से बोली—"बाबा, आज मेरी दीदी आई है, इसलिए मेरी छुट्टी है।"

"तेरी दीदी कहां से आ गई ?"

जुलेखा एक ओर से निकलकर बोली—"मैं हूं।"

वृद्ध चकित रह गया। जुलेखा के बिलकुल नज़दीक जाकर, ध्यान से वृद्ध ने उसका मुंह देखा। फिर बोला—"तू काम-काज कुछ जानती है ?"

अमीना बोली—"बाबा, दीदी काम नहीं करेगी। इनका काम मैं कर दिया करूंगी।"

वृद्ध ने जुलेखा से प्रश्न किया—"तू रहेगी कहां ?"

"अमीना के पास !" जुलेखा ने कहा।

वृद्ध ने सोचा, 'अच्छी आफत है !' बोला—"और खाओगी क्या ?"

"इसका भी रास्ता है।" कहकर जुलेखा ने बे-परवाही से एक स्वर्ण मुद्रा उसके सामने फेंक दी।

अमीना उसे उठाकर धीवर के हाथ में देती हुई धीरे से

बोली—"बाबा, अब कुछ न बोलो। चुपचाप चले जाओ। काम में देर हो रही है।"

जुलेखा वेश बदलकर, बहुत-से स्थानों में भ्रमण करती हुई किस प्रकार अमीना के पास आई, यह एक लम्बी कहानी है। उसका रक्षक रहमत शेख एक फर्ज़ी नाम से आराकान की राजसभा में काम कर रहा था।

संकीर्ण नदी बह रही थी। ग्रीष्म की प्रभाती वायु में कैलू वृक्ष की रक्तवर्ण पुष्प-मञ्जरी से फूल झर रहे थे। वृक्ष के नीचे बैठी हुई जुलेखा अमीना से कह रही थी—"हमें खुदा ने इसलिए ज़िन्दा रखा है कि हम वालिद के खून का बदला ले सकें।" अमीना नदी के दूसरे तट की सुदूर छायामय वन-श्रेणी की ओर देखती हुई बोली—"दीदी, अब ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। मुझे यह दुनिया एक प्रकार से अच्छी ही लगने लगी है। मरना चाहें तो मरें वे लोग जो हमेशा आपस में मार-काट मचाए रखते हैं। मुझे तो अब कोई दुःख नहीं।"

जुलेखा बोली—"बड़े अफसोस की बात है बहन! तुम शाही खानदान की लड़की हो। कहां दिल्ली का शाही महल, और कहां यह धीवर की झोंपड़ी!"

अमीना हंसकर बोली—"दिल्ली के शाही महल से अगर यह झोंपड़ी और यह कैलू गाछ किसी लड़की को अच्छे लगते हैं, तो उसके लिए दिल्ली का शाही महल आंसू की एक बूंद भी न गिराएगा।"

जुलेखा अनमने भाव से बोली—"खैर, इसके लिए मैं तुझे दोष नहीं दे सकती। उस वक्त तू बहुत छोटी थी। लेकिन ज़रा सोच तो, वालिद तुझे ही सबसे ज़्यादा प्यार करते थे। तभी तो उन्होंने अपने हाथों से तुझे जल में फेंका था। उस पितृदत्त मृत्यु से इस जीवन को अधिक प्रिय मत समझ। अगर तू बदला ले सके, तभी अपने जीवन को सार्थक समझना।"

अमीना स्थिर बैठी रही। यह स्पष्ट था कि इस अप्रिय प्रसंग के बावजूद बाहर की वह मस्त हवा, वह कैलू गाछ और उसका अपना मादक नवयौवन किसीकी सुखद स्मृति में उसे निमग्न कर रहे थे। थोड़ी देर के बाद वह बोली—"दीदी, तुम ज़रा बैठो। कुछ काम रह गया है, उसे कर आऊं। खाना भी पकाना है। न पकाऊंगी, तो सब गड़बड़ हो जाएगा।"

जुलेखा चुपचाप बैठी अमीना के बारे में सोच रही थी। तभी सहसा किसीने कूदकर, उसकी आंखें बन्द कर लीं। जुलेखा व्यस्त हो उठी। बोली—"कौन है ?"

उसका स्वर सुनकर, युवक ने अपने हाथ जुलेखा की आंखों से हटा लिए। फिर जुलेखा की ओर देखकर बोला—"तू तो तिन्नि नहीं है !" मानो जुलेखा अपने को तिन्नि बता रही हो और युवक ने अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा उसका असली परिचय जान लिया हो।

जुलेखा अपने वस्त्र संभालती हुई कठोर स्वर में बोली—"कौन हो तुम ?"

युवक ने कहा—"तुम मुझे न पहचान पाओगी। तिन्नि कहां है?"

शोर सुनकर तिन्नि बाहर आ गई। जुलेखा का क्रोध और युवक को अकचकाया देखकर वह खिलखिला पड़ी। उसने कहा—"दीदी, इसकी बातों पर ध्यान न दो। यह आदमी तो जंगली जानवर है। इसने कोई शैतानी की है तो मैं अभी इसे ठीक किए देती हूं। दालिया, तुमने क्या किया?"

युवक ने कहा—"आंखें मूंदी थीं। मैंने भूल से इसे तिन्नि समझ लिया था।"

तिन्नि क्रोध प्रकट करती हुई बोली—"फिर? छोटे मुंह बड़ी बात! तुमने कब तिन्नि की आंखें मूंदी थीं? बड़े शैतान हो!"

युवक ने कहा—"आंख मूंदने के लिए बहुत साहस की ज़रूरत तो नहीं होती, अगर पहले का अभ्यास हो। किन्तु, सच कह रहा हूं तिन्नि, आज मैं सचमुच डर गया।" कहकर नज़र बचाकर जुलेखा की ओर देखकर वह हंस दिया।

अमीना बोली—"तुम पूरे वहशी हो। तुम शाहज़ादी के सामने खड़े होने के योग्य नहीं। तुम्हें शिक्षा देना ज़रूरी है। देखो, इस तरह सलाम करो!" और अमीना ने मधुर भंगिमा से हाथ हिलाकर, कमर टेढ़ी करके जुलेखा को सलाम किया।

युवक ने बड़े कष्ट से उसका भोंडा अनुकरण किया।

"अब इस तरह तीन कदम पीछे चलो।"

युवक पीछे चला।

"फिर सलाम करो।"

युवक ने फिर सलाम किया। इस प्रकार सलाम करते-करते, युवक कुटीर के द्वार तक पहुंच गया।

अमीना बोली—"रे, घर के अन्दर जाओ।"

युवक घर के भीतर चला गया। अमीना ने बाहर से कुंडी लगा दी। फिर बोली—"थोड़ा काम करो। आग जला दो।"

इसके बाद वह जुलेखा के पास आकर, बैठते हुए, बोली—"दीदी, नाराज़ न होओ। यहां के लोग होते ही ऐसे हैं। मैं तो तंग आ गई हूं इन लोगों से।"

लेकिन अमीना के मुंह या व्यवहार से उसके विचारों का समर्थन नहीं हो रहा था। बहुत-से विषयों में यहां के लोगों के प्रति उसका पक्षपात ही अधिक देखा जा रहा था।

जुलेखा यथासाध्य क्रोध प्रकट करती हुई बोली—"सच-मुच अमीना, तेरे व्यवहार से मुझे आश्चर्य हो रहा है। एक साधारण युवक आकर तुझे स्पर्श करे! उसकी इतनी हिम्मत।"

अमीना ने भी दीदी के स्वर में कहा—"हां, सच मानो दीदी, किसी बादशाह या नवाब का लड़का भी होता, तो उसे भी अपमानित कर भगा देती।"

जुलेखा की हंसी अब नहीं रुकी। हंसकर बोली—"सच बता, अमीना, तुझे यह ज़िन्दगी जो अच्छी लग रही है, तो क्या इस जंगली युवक के कारण ही?"

अमीना बोली—"दालिया मेरा बहुत-सा काम कर देता है दीदी। फल-फूल ला देता है, शिकार कर लाता है। कोई भी काम कहूं, वह तुरन्त कर देता है। कितना भी फटकारूं, वह बुरा नहीं मानता। अगर कभी कहती हूं—'दालिया, मैं तुमसे

बहुत नाराज़ हूं', तो वह मेरे मुंह की ओर देखकर हंस देता है। इस देश में परिहास यों होता है कि ये लोग मुक्के पीठ पर पड़ने से खुश होते हैं। इसकी भी परीक्षा कर चुकी हूं। देखो न, घर में बन्द कर दिया है, तो मौज से चूल्हा फूंक रहा है। इससे तो मैं तंग आ गई। क्या करूं कुछ समझ में नहीं आता।"

जुलेखा बोली—"अच्छा, मैं कोशिश करूंगी उसे ठीक करने की।"

अमीना ने हंसकर कहा—"तुम्हारे पैर पड़ती हूं, दीदी, उसे कुछ मत कहना।" वह ऐसे बोली मानो वह युवक उसका कोई प्यारा पालतू पशु हो, जो मनुष्य को देखकर अपने वन्य स्वभाव के कारण भाग निकलने की कोशिश करता हो।

तभी धीवर ने आकर पूछा—"आज दालिया नहीं आया, रे तिन्नि ?"

"आया है।"

"कहां है ?"

"बड़ा उपद्रव कर रहा था। सो उसे घर में बन्द कर दिया है।"

वृद्ध ने कुछ चिन्तित स्वर में कहा—"थोड़ी उम्र में सभी ऐसे होते हैं बेटी। उसे कष्ट मत दिया करो। दालिया कल एक थलु (स्वर्ण मुद्रा) देकर तीन मछली ले गया था।"

अमीना बोली—"तुम निश्चिन्त रहो बाबा, आज मैं उससे दो थलु ले लूंगी और एक भी मछली न दूंगी।"

वृद्ध अपनी पालित कन्या को थोड़ी उम्र में ही इतनी

चतुर देखकर बहुत खुश हुआ और सस्नेह उसके सिर पर हाथ फेरकर चला गया।

जुलेखा को भी अब दालिया के आने-जाने में कोई आपत्ति नहीं रही। यह आश्चर्य की बात तो अवश्य है, लेकिन सोचने पर इसमें आश्चर्य की बात नहीं। नदी के एक ओर जैसे स्रोत है, दूसरी ओर वैसे ही तट भी है। रमणी के भी उसी तरह हृदयावेग और लोक-लज्जा होती है। लेकिन आराकान के इस निर्जन प्रदेश में समाज कहां ? यहां तो केवल निश्चित ऋतु में ही वृक्ष की शाखाएं मञ्जरित होती हैं। सामने की नीलवर्ण नदी वर्षा में स्फीत, शरद में स्वच्छ और ग्रीष्म में क्षीण होती है। यहां पक्षियों के मधुर कण्ठ-स्वर में आलोचना लेशमात्र नहीं रहती। कभी-कभी दक्षिण वायु पास के गांव से मानव-कंठ-स्वरों की ध्वनियां अवश्य लाती है, लेकिन काना-फूसी नहीं। परित्यक्त अट्टालिका पर जैसे क्रमशः धीरे-धीरे घास-फूस का जन्म होता है, वहां कुछ दिन रहने से प्रकृति के निःशब्द आक्रमण से मानव-निर्मित लौकिकता की दृढ़ भित्ति अलक्ष्य रूप से टूट जाती है। फिर प्रकृति के साथ मिलकर सब-कुछ एक हो जाता है। दो समवयस्क नर-नारी का मिलन-दृश्य रमणी को जितना अच्छा लगता है, वैसा और कुछ नहीं। इतने रहस्य, इतने सुख, इतने कुतूहल का विषय उसके लिए और कुछ नहीं हो सकता। अतः उस कुटीर के भीतर दरिद्रता की छाया में जुलेखा का कुल-गर्व और लोक-मर्यादा

का भाव जब अपने आप शिथिल हो गया तो पुष्पित कैलू वृक्ष के नीचे अमीना और दालिया का मिलन-दृश्य उसे बड़ा अच्छा लगने लगा। उसका तरुण हृदय भी शायद एक अपरितृप्त आकांक्षा से जाग उठता और उसे चंचल कर देता। अन्त में ऐसा हो गया कि कभी युवक के आने में देर हो जाती तो अमीना जैसी उत्कण्ठा से उसकी राह देखती, जुलेखा भी वैसे आग्रह से उसकी प्रतीक्षा करती। और जब दोनों एकत्र होते, तो चित्रकार जैसे अपने नवनिर्मित चित्र को थोड़ी दूर से देखता है, वैसे वह भी सहास्य और सस्नेह उन्हें देखती। कभी-कभी कृत्रिमता की आड़ लेकर, मौखिक कलह और भर्त्सना भी करती, कभी अमीना को घर में बन्द करके युवक के मिलनावेग का मज़ा लेती।

सम्राट् और अरण्य में एक सादृश्य है। दोनों ही स्वाधीन और स्वतन्त्र होते हैं; दोनों को ही किसीके नियम पर नहीं चलना पड़ता। दोनों में प्रकृति की एक स्वाभाविक सरलता है। जो बीच के हैं, जो दिन-रात लोकशास्त्र के अक्षर मिला कर जीवन-यापन करते हैं, वे ही बड़ों के निकट दास, छोटों के निकट प्रभु और उलझन में पड़कर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। जंगली दालिया प्रकृति-सम्राज्ञी का चंचल बालक था। शाहज़ादियों के निकट उसे कोई संकोच अनुभव नहीं होता था। और शाहज़ादियां भी उसे समकक्ष में ले सकती थीं। उनके हंसमुख, सरल, कौतुकप्रिय, प्रत्येक अवस्था में निर्भीक, असंकुचित चरित्र में दारिद्र्य का कोई लक्षण ही नहीं था। किन्तु इन सब खेलों के बीच कभी-कभी जुलेखा का हृदय हाय-

हाय कर उठता। वह सोचता—'एक शाहज़ादी की यह तबाही!'

एक दिन सुबह दालिया के आते ही जुलेखा ने उसका हाथ पकड़कर पूछा—"दालिया, हमें यहां के राजा को दिखा सकते हो!"

"हां, दिखा सकता हूं। पर क्यों?"

"मेरे पास एक छुरा है। उसे मैं उसकी छाती में भोंकना चाहती हूं।"

पहले तो यह सुनकर दालिया को आश्चर्य हुआ, फिर जुलेखा के हिंसाप्रखर मुख को देखकर उसका चेहरा हंसी से खिल उठा। मानो ऐसी मज़ेदार बात उसने कभी सुनी ही न हो। राजपुत्री के अनुरूप परिहास तो यही है। एकाएक जाकर चलते-फिरते राजा की छाती में एक छुरा भोंक देने से, राजा कैसा चकित रह जाएगा, यही चित्र उसके मन में उदय होकर उसकी निःशब्द हंसी को रह-रहकर उच्च हास में परिणत कर रहा था।

इसके दूसरे दिन ही रहमत शेख ने जुलेखा को एक पत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि आराकान का नया राजा धीवर की कुटीर में दोनों बहिनों को छिपकर देख चुका है, और अमीना को देखकर अत्यन्त मुग्ध हुआ है। उसे विवाह के लिए अविलम्ब राजभवन में लाने की इच्छा हो रही है। प्रतिशोध का ऐसा अच्छा अवसर फिर कभी न आएगा।

पत्र पढ़कर जुलेखा ने दृढ़ भाव से अमीना का हाथ पकड़कर कहा—"ईश्वर की इच्छा स्पष्ट हो रही है। अमीना, अब तेरे कर्त्तव्य-पालन का मुहूर्त्त आ रहा है। अब ये खेल तुझे शोभा नहीं देते।"

दालिया उपस्थित था। अमीना ने देखा वह सकौतुक हंस रहा था। अमीना उसकी हंसी देखकर मर्माहत हुई। बोली—"जानते हो दालिया, मैं महारानी होने जा रही हूं?"

दालिया बोला—"पर अधिक देर के लिए नहीं।"

यह उत्तर सुनकर अमीना ने पीड़ित, विस्मित चित्त से सोचा, 'सचमुच यह वन का मृग है। इससे मनुष्योचित व्यवहार करना मेरा पागलपन था।' उसने दालिया को और भी सचेत करने के लिए कहा—"राजा को मारकर क्या मैं वापस आ सकूंगी?"

दालिया ने स्थिति की गम्भीरता समझकर कहा—"लौटना मुश्किल तो है।"

अमीना का जी सूख गया। जुलेखा की ओर मुंह करके बोली—"मैं तैयार हूं, दीदी।" फिर दालिया की ओर देखकर दुःखी हृदय लिए परिहास का ढोंग रचते हुए कहा—"महारानी बनकर सबसे पहले मैं तुम्हें राजद्रोह के अपराध में सज़ा दूंगी!"

सुनकर दालिया हंस पड़ा।

अश्वारोही, पैदल, निशान, हाथी, वाद्य, रोशनी! धीवर

की कुटीर मानो टूट जाएगी। राजमहल से दो स्वर्ण-मंडित शिविकाएं आई हैं।

अमीना ने जुलेखा के हाथ से छुरा ले लिया। वह उसकी हस्तिदन्त-निर्मित कला बहुत देर तक देखती रही। उसके पश्चात् वसन उठाकर, सामने अपने वक्ष पर एक बार उसकी धार की परीक्षा कर ली। जीवन-मुकुल-वृन्त से एक बार छुरे का स्पर्श कर के कोष में रखकर उसे वसन में छिपा लिया।

उसकी एकान्त इच्छा थी कि इस मरण-यात्रा के पूर्व एक बार दालिया से मिल ले, लेकिन वह कल से ही लापता था। शिविका में चढ़ने से पहले अमीना ने अश्रु-जल के भीतर से अन्तिम बार अपने बाल्य-काल के आश्रय को देखा। कुटीर, नदी, कैलू गाछ। फिर धीवर का हाथ पकड़कर, वह रुद्ध गले से बोली—"तुम्हारी तिन्नि जा रही है बाबा! अब तुम्हारा घर कौन देखगा?"

धीवर एकदम बच्चों की तरह रो पड़ा।

अमीना बोली—"यदि दालिया आए तो उसे यह अंगूठी दे देना। कहना कि जाते वक्त तिन्नि दे गई थी।" और फिर वह तेज़ी से शिविका में बैठ गई।

महासमारोह के साथ शिविका नगर की ओर चली गई। अमीना की कुटीर, नदी-तीर, कैलू तरु-तल, सब अंधकार में नीरव तथा जनशून्य हो गए।

दोनों शिविकाएं नगर का सिंहद्वार पार करके, महल के अन्तःपुर में पहुंचीं। दोनों बहनें शिविकाओं से उतरीं। अमीना के भावहीन मुख पर न तो हंसी थी और न विषाद। जुलेखा

का मुख विवर्ण था। कर्त्तव्य जब दूर था, तो उसके उत्साह में तीव्रता थी। अब कंपित हृदय से, व्याकुल स्नेह से, उसने अमीना को सीने से लगा लिया। मन में उसने सोचा, 'नव प्रेम-वृन्त से इस कली को तोड़कर किस रक्त-स्रोत में बहाने जा रही हूं!'

किन्तु अब सोचने का समय नहीं था। दासियों के सहारे दोनों बहनें शत-सहस्र दीपों के प्रकाश में स्वप्नाहत की तरह चल रही थीं। अन्त में अन्तःपुर के द्वार पर रुककर अमीना ने कहा—"दीदी!"

जुलेखा ने अमीना का आलिंगन करके चुम्बन कर लिया।

दोनों ने धीरे-धीरे राजकक्ष में प्रवेश किया। राजवस्त्र पहने पलंग पर राजा बैठे थे। अमीना संकोच से द्वार के समीप खड़ी थी। जुलेखा ने आगे बढ़कर राजा के निकट जाकर देखा—राजा सकौतुक हंस रहे हैं। जुलेखा चीख उठी—"दालिया!"

अमीना मूर्छित होकर गिर पड़ी।

दालिया उठकर, उसे आहत पक्षी की तरह गोद में लेकर, पलंग पर ले गया।

अमीना ने होश में आकर छुरी निकालकर दीदी की ओर देखा। दीदी ने दालिया के मुंह की ओर देखा। दालिया निःशब्द हास्य के साथ दोनों को देखता रहा। छुरी भी इस रंग-ढंग को देखकर कोष में से थोड़ा-सा मुंह निकालकर हंस उठी।

डिटेक्टिव

"मैं पुलिस का डिटेक्टिव कर्मचारी था। मेरे जीवन में केवल दो लक्ष्य थे––मेरी स्त्री और मेरा व्यवसाय। पहले एकान्नवर्त्ती परिवार में था, पर वहां मेरी स्त्री के प्रति समादर न होते देख मैं बड़े भाई से झगड़ाकर अलग हो गया। बड़े भइया ही उपार्जन करके पाल रहे थे, अतः सहसा स्त्री सहित उनका आश्रय त्याग करना मेरे लिए दुःसाहस का काम हुआ था।

किन्तु अभी तो मेरा अपने ऊपर विश्वास कम नहीं था। मैं निश्चय कर चुका था, जैसे मैंने सुन्दरी स्त्री को मनाया है वैसे ही अदृश्य लक्ष्मी को भी मनाऊंगा। महिमचन्द्र इस जगत् में पीछे रहनेवाला नहीं है।

पुलिस विभाग के सामान्य पद से डिटेक्टिव के पद तक उत्तीर्ण होते देर न लगी।

उज्ज्वल शिखा से जैसे काजल पड़ता है वैसे ही मेरी स्त्री के प्रेम में ईर्ष्या तथा सन्देह की कालिमा निकलती थी। उससे मेरे काम में कुछ बाधाएं दिखाई देतीं। कारण, पुलिस के कामों में स्थानास्थान या कालाकाल के विचार करने से काम नहीं चलता, पर स्थान की अपेक्षा अस्थान और काल की अपेक्षा

अकाल की ही चर्चा अधिक करनी पड़ती है। इसमें मेरी स्त्री का स्वभाव-सिद्ध सन्देह और भी दुर्निवार हो उठता। वह मुझे भय दिखाने के लिए कहती—'तुम ऐसे जब-तब, जहां-तहां रहते हो, कभी मुझसे मिल लेते हो, मेरे लिए तुम्हारे मन में आशंका नहीं होती ?' मैंने उससे कहा—'सन्देह करना मेरा व्यवसाय है, अतः घर में उसे नहीं लाना चाहता हूं।' स्त्री कहती—'सन्देह करना मेरा व्यवसाय नहीं है। वह मेरा स्वभाव है—मुझे तुम अगर ज़रा भी सन्देह का कारण दोगे तो मैं सब कुछ कह सकती हूं।'

डिटेक्टिव लाइन में मैं सबसे बड़ा होऊंगा, अपना नाम रखूंगा, यह प्रतिज्ञा मेरी दृढ़ थी। इस सम्पर्क में जितने विवरण तथा कहानियां हैं उनमें से किसीको भी पढ़ने से न छोड़ा। परन्तु उन्हें पढ़कर केवल यह असन्तोष एवं अधीरता और भी बढ़ जाती। कारण, हमारे देश के अपराधी भीरु और निर्दोष होते हैं। उनके अपराध निर्जीव तथा सरल होते हैं, उनमें दुरूहता व दुर्गमता बिल्कुल नहीं रहती है। हमारे देश के खूनी नर रक्तपात की उत्कट उत्तेजना को किसी भी तरह से अपने मन में संवरण नहीं कर सकते। जालिया जो जाल-विस्तार करता है, अनतिविलम्ब में वह स्वयं उस जाल में सिर से पैर तक जकड़ जाता है। ऐसे निर्जीव देश में डिटेक्टिव के कामों में न तो सुख है, न गौरव। बड़े बाज़ार के मारवाड़ी जुए चोर को अनायास में गिरफ्तार करके कितनी दफे अपने मन में कहा, अरे अपराधी-कुल-कलंक, दूसरों का सत्यानाश करना गुणी उस्तादों का काम है, तेरे जैसे अनाड़ी

को तो साधु तपस्वी होना था। खूनी को पकड़कर उसके प्रति स्वगत उक्ति थी, गवर्नमेंट के समुन्नत फांसी काष्ठ क्या तुम जैसे गौरव-विहीन प्राणियों के लिए हैं ! तुम्हारे में न कठोर ग्रात्मसंयम है ग्रौर न उदार कल्पना-शक्ति ही, तुम खूनी होने से स्पर्धा करते हो !

मैं कल्पना-नेत्रों से जब लन्दन ग्रौर पेरिस के जनाकीर्ण रास्तों के दोनों ग्रोर की शीत व्याकुल ग्रभ्रभेदी ग्रट्टालिकाएं देखता तो मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठता, मन ही मन सोचता, इन ग्रट्टालिकाग्रों में ग्रौर राजपथ तथा उपपथों पर जैसे कर्म-स्रोत, जन-स्रोत उत्सव-स्रोत प्रतिदिन बह रहा है वैसे ही सर्वत्र एक हिंस्र, कुटिल, कृष्णकुञ्चित भयंकर ग्रपराध-प्रवाह तले-तले ग्रपना रास्ता बनाता हुग्रा बह रहा है, ग्रौर उसीके समीप यूरोपीय सामाजिकता का हास्य-कौतुक कैसा विराट भीषण रमणीयता का रूप लिये हुए है। ग्रौर हमारे कलकत्ते के रास्तों के पास मुक्त वातायनों में, गृह-श्रेणी के ग्रन्दर खाना-पकाना, गृह-कार्य, परीक्षा की, पढ़ाई ताश, शतरंज की बैठक, दाम्पत्य कलह, मातृविच्छेद एवं मुकदमे-वालों के सिवाय ग्रौर कुछ नहीं है——किसी भी घर की ओर देखकर मन में यह नहीं ग्राएगा कि शायद इसी मुहूर्त्त में गृहस्थ के किसी एक कोने में शैतान ग्रपने काले-काले ग्रंडों पर ताव दे रहा हो।

मैं ग्रक्सर सड़क पर निकल राहगीरों के चाल-चलन तथा उनके मुख पर नज़र दिया करता——भावभंगी में जहां कहीं भी सन्देह होता मैं उनके पीछे चुपचाप हो लेता। उनके नाम-

धाम का पता लगाता और अन्त में परम नैराश्य के साथ आविष्कार करता कि वे निष्कलंक हैं, यहां तक कि उनके सगे-सम्बन्धी भी अकेले में कोई गुरुतर या मिथ्या अपवाद प्रचार नहीं करते हैं। पथिकों में, जिनमें सबसे अधिक पाखण्ड प्रतीत हो, यहां तक कि जिसे देख मुझे दृढ़ विश्वास हो जाता कि यह ज़रूर इसी वक्त कोई भयंकर अपराध करके आ रहा है, संधान करने पर मालूम होता, वह कोई स्कूल का सहायक अध्यापक है, अब पढ़ाकर आ रहा है। यह मनुष्य अन्य किसी देश में जन्म ग्रहण करने से अवश्य कोई विख्यात चोर या डकैत होता, केवल यथोचित जीवन-शक्ति और यथेष्ट परिभाषा पौरुष के अभाव से ही ये हमारे देश में अध्यापकी कर वृद्ध वयस में पेंशन ले बैठते हैं। अनेक चेष्टा और सन्धान के बाद इस अध्यापक की निरीहता पर मुझे जैसी बड़ी अश्रद्धा हुई थी वैसी शायद एक साधारण चोर पर भी न हुई होगी।

अन्त में सन्ध्या के समय अपने घर के नज़दीक एक गैस पोस्ट के नीचे एक आदमी को देखा, बेकाम वह बार-बार एक ही स्थान पर घूम रहा था। उसे देख मैं निःसन्देह हो गया कि यह ज़रूर कोई गोपन दुरभिसन्धि के पीछे नियुक्त है। नीचे अंधेरे में रहकर उसके चेहरे को एक बार गौर से देख लिया—तरुण उम्र, बोलने में भी सुन्दर;—मैं मन ही मन बोला, दुष्कर्म करने का यही तो उपयुक्त चेहरा है; जिनकी मुखश्री ही जिनकी सर्वप्रधान साक्षी है, उन्हें सर्व प्रकार के अपराध-मूलक कामों से दूर रहना चाहिए—सत्कर्म करके वे निष्फल हो सकते हैं, किन्तु दुष्कर्म द्वारा सफलता भी दुराशामात्र है।

मैंने देखा, उस छोकरे का चेहरा ही उसकी सर्वप्रधान बहादुरी है। इसलिए मैंने मन ही मन उसकी तारीफ की और कहा, भगवान्, जो सुविधा तुमने दी है उसे पूर्ण रूप से काम में लगा सको तभी तो कहूं कि शाबाश !

मैंने अंधेरे में से उसके सामने आकर पीठ पर चपत मारते हुए कहा—'यह रहे, कहो मज़े में तो हो ?' वह प्रबल रूप से चौंक गया, उसका मुंह सफेद हो गया। मैंने कहा—'माफ कीजिएगा, भूल हो गई है। एकाएक मैं आपको कोई दूसरा समझ बैठा।' मन में कहा—भूल कुछ भी नहीं हुई है, जो सोचा था वही निकला, पर इतना अधिक चौंक जाना भी उसके लिए अच्छा नहीं हुआ—इसके लिए मैं ज़रा क्षुब्ध भी हुआ, छोकरे को अपने शरीर पर और भी काबू चाहिए था। किन्तु श्रेष्ठता का सम्पूर्ण आदर्श अपराधियों में विरल है। चोर को सम्पूर्ण चोर करने में प्रकृति भी कृपणता करती है।

अन्तराल में आकर देखा, वह गैसपोस्ट छोड़कर चला गया है। पीछे-पीछे जाकर देखा वह 'गोलदिघि' के तालाब के किनारे घास पर चित्त पड़ा है। मैंने सोचा—उपाय-चिन्ता करने का यही एक स्थान है। गैसपोस्ट के नीचे से यह कहीं अच्छा है। कोई अगर देखे तो यह सोच लेगा कि छोकरा अंधेरे में पड़ा अपनी प्रेयसी का चन्द्रमुख अंकित करता हुआ कृष्णपक्ष रात्रि के अभाव को पूर्ण कर रहा है। लड़के के प्रति मेरा चित्त उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा।

अनुसन्धानपूर्वक उसके वासस्थान का पता लगाया। मन्मथ उसका नाम है, वह कालेज का छात्र है। परीक्षा मेंफे ल होकर

गर्मी की छुट्टियों में इधर-उधर घूम रहा है। उसके अन्य साथी सब गर्मी की छुट्टियों पर घर चले गए हैं। दीर्घ अवकाश पर जब सब छात्र ही वासस्थान छोड़कर चले गए हैं तो इसे कौन-सा दुष्ट ग्रह छुट्टी नहीं दे रहा है। उसे ढूंढ़ निकालने पर मैं कृत-संकल्प हुआ।

मैं भी छात्र बनकर उसके वासस्थान पर रहने लगा। प्रथम दिन जब उसने मुझे देखा, तो एक अजीब भाव से उसने मेरी ओर देखा, वे भाव मुझे अच्छे नहीं लगे। मैं समझ गया कि शिकारी के उपयुक्त शिकार है। इसे सीधी तरह कायदे में नहीं लाया जाएगा। लेकिन जब उससे प्रणय-बन्धन की चेष्टा की तो वह ज़रा भी नहीं हिचकिचाया था। परन्तु यह मुझे महसूस हुआ कि वह भी मुझे सदा तिरछी नज़रों से देखा करता है, शायद वह भी मुझे पहचानना चाहता है।

मनुष्य-चरित्र के प्रति सदा सतर्क कौतूहल उस्ताद के लक्षण होते हैं। इतनी अल्प उम्र में ऐसी चातुरी देख बड़ा आनन्द हुआ। मन में विचार किया, बीच में एक रमणी न रहने से इस असाधारण अकाल-धूर्त्त लड़के का हृदय-द्वार उद्घाटन करना सहज नहीं है। एक दिन मैंने गद्गद होकर कहा—'भाई, मुझे एक स्त्री से प्रेम है; पर वह मुझे प्यार नहीं करती।'

पहले तो वह ज़रा चकित-सा रह गया, इसके बाद मुस्करा-कर बोला—'ऐसा दुर्योग विरल है, इस प्रकार के कौतुक करने के लिए ही विधाता ने नर और नारी का भेद किया है।' मैंने कहा—'तुम्हारी सहायता और परामर्श चाहिए।' वह सहमत

हो गया। मैंने बना-बनाकर खूब कही। उसने आग्रह से सुना सब, पर बोला अधिक नहीं। मेरी धारणा थी कि प्रेमी क बातों, विशेषकर गर्हित प्रेम की बातों, से मनुष्य से अन्तरंगता बढ़ती है। परन्तु यहां उसका व्यतिक्रम हुआ। लड़का पहले से और भी अधिक चुप हो गया, यद्यपि समस्त बातों की उसने गांठ बांध ली थी। उसके प्रति मेरी भक्ति की सीमा नहीं रही।

इधर मन्मथ प्रतिदिन दरवाज़ा बन्द करके क्या करता है, उसकी गोपन अभिसन्धि कहां तक सफल हुई, मैं कुछ न जान सका। तथापि वह अग्रसर हो रहा था इसमें कोई सन्देह नहीं था। कोई एक निगूढ़ विषय में वह व्याप्त है और सम्प्रति वह विषय और भी अधिक परिपक्व हो गया है—यह उस नवयुवक के चेहरे को देखकर ही अन्दाज़ लगाया जा सकता है। मैं छिपकर उसके डेस्क खोलकर देख चुका हूं। उसमें सिर्फ एक दुर्बोध कविताओं की कापी, कालेज के नोट तथा घर से आई हुई कई चिट्ठियों के सिवाय और कुछ नहीं है। घर से आई हुई चिट्ठियों से पता चलता है कि घर वाले उसे बार-बार घर आने के लिए लिख रहे हैं, तथापि घर न जाने का एक उपयुक्त संगत कारण ज़रूर होगा, और वह अगर न्यायसंगत होता तो बातों-बातों में ज़रूर मालूम हो जाता, पर उसके सम्पूर्ण विपरीत की सम्भावना होते हुए इस छोकरे की गतिविधि एवं इतिहास मेरे निकट एक निरतिशय कौतूहल हो गया है; जो असामाजिक मनुष्य पाताल में सम्पूर्ण रूप से रहकर सर्वदा इस बृहत मनुष्य-समाज को नीचे की ओर से हिला रहा है, यह बालक उसी विश्वव्यापी बहु-पुरातन बृहत

जाति का एक अंग है। यह एक सामान्य कालेज का छात्र नहीं, यह जगत्-वृक्ष-विहारिणी सर्वनाशिनी का सहचर है, आधुनिक काल के चश्मे लगाए हुए बंगाली छात्र के वेष में कालेज में पढ़ रहा है, नृमुण्डधारी कापालिक के वेष में भी इसकी भैरवता मेरे निकट इतनी भैरवतर नहीं होती—मैं इससे भक्ति करता हूं।

अन्त में सशरीर रमणी की अवतारणा करनी पड़ी। पुलिस की वेतन-भोगी हरिमति मेरी सहायक हुई। मन्मथ से कहा, मैं इस हरिमति का हतभाग्य प्रणयाकांक्षी हूं। हरिमति को लक्ष्य करके मैं कई दिन 'गोलदिघि' के निकट मन्मथ के साथ रहकर 'फिर क्यों नभ में सुधांशु उदय हुआ रे' कविता की बार-बार आवृत्ति करता—और हरिमति ने भी एक तरह के नाटकीय ढंग से कहा कि, वह अपना चित्त मन्मथ को समर्पण कर चुकी है। किन्तु आशानुरूप फल नहीं हुआ। मन्मथ निर्लिप्त अविचलित कुतूहल के साथ समस्त देखता रहा। इस समय एक दिन शाम को फर्श पर छिन्न पत्र के कई टुकड़े मिले, जिन्हें जोड़कर यह आशय निकला, 'आज संध्या ७ बजे छिपकर तुम्हारे घर में···'बहुत ढूंढ़ने पर और कुछ नहीं मिला।

मेरा अन्तःकरण पुलकित हो उठा। माटी में से कोई विलुप्त वंश के प्राचीन प्राणी का केवल एक हाड़ पाकर मानव-विज्ञान की कल्पना जैसे महानन्द से जाग उठती है, वैसे ही मैं भी हो गया।

मैं जानता था कि आज रात १० बजे हमारी हरिमति का आविर्भाव होने वाला है। इसलिए आज ७ बजे क्या होता

है, देखें। छोकरे का जैसा साहस है वैसी ही बुद्धि। यदि कोई गोपन अपराध का ही काम करता है तो ऐसे दिन कि जिस दिन कोई नई चहल-पहल हो; प्रथमतः ऐसे दिन प्रधान चहल-पहल की ओर ही सब झुके रहते हैं, द्वितीयतः जिस दिन जहां कोई विशेष समागम होता है वहां कोई इच्छापूर्वक छिपकर अपराधमूलक कार्य करेगा, यह कोई सोच ही नहीं सकता।

एकाएक मुझे सन्देह हुआ कि मेरे साथ मन्मथ की नई दोस्ती एवं हरिमति के साथ प्रेमाभिनय, इसे भी मन्मथ ने अपने कार्यसिद्धि का एक उपाय बना लिया है। इसलिए वह न तो पकड़ाव में ही आता है और न छोड़कर ही जाता है। हम लोगों ने उसके गोपन कार्य को सहारा दे रखा है। सब लोग सोचेंगे, यह हमें ही लेकर है—यह भी इस भ्रम को दूर करना नहीं चाहता है।

एक बार सारे तर्कों को सोचकर देखिए—जो विदेशी छात्र छुट्टी में भी घरवालों के अनुनय-विनय की उपेक्षा कर विसर्जन स्थान में अकेला रहता है, निर्जन स्थान उसे विशेष प्रिय है; पर मैंने उसके वासस्थान आकर उसकी निर्जनता भंग की, एक रमणी की अवतारणा करके नये उपद्रव किए, पर वह न तो विरक्त ही हुआ और न हमारा साथ ही छोड़ा, और यह भी सत्य है कि वह हमारे प्रति तिलमात्र भी आसक्त नहीं वरन् उसको असतर्क अवस्था में बारम्बार मैंने लक्ष्य किया कि हमारे दोनों के प्रति उसकी आन्तरिक घृणा क्रमशः वृद्धि पा रही है। इसका एकमात्र तात्पर्य यह है कि सजनता के

रहते हुए भी अगर निर्जनता की सुविधा भोग करनी हो तो मेरे जैसे नवपरिचित आदमी को ही निकट रखना सर्वापेक्षा सदुपाय है। इतिपूर्व मन्मथ के आचरण पर जो सन्देह के भाव थे वे मेरे आने के पश्चात् विलुप्त हो गए। किन्तु इतनी दूर की बात एक मुहूर्त्त में विचारने वाला मतलबी आदमी हमारे बंगाल में जन्म ग्रहण कर सकता है, यह सोचकर मेरा हृदय उत्साह से पूर्ण हो गया। मन्मथ अगर कोई बाधा न देता तो मैं उसे दोनों हाथों से छाती से लगा लेता।

उस दिन मन्मथ से मिलते ही कहा, 'आज सन्ध्या ७ बजे मैंने तुम्हें होटल में खाना खिलाने का निश्चय किया है।' यह सुनकर वह चौंक उठा, फिर आत्मसंवरण करके बोला, 'भाई, आज माफ कर दो, पेट ठीक नहीं है।' होटल के खाने में मन्मथ की कभी अरुचि नहीं देखी, पर आज उसकी अन्तरेन्द्रिय निश्चय कोई दुरूह अवस्था में उपनीत होगी।

उस दिन सन्ध्या के पूर्व भाग में मेरा वासा में रहना निश्चित था। परन्तु उस दिन मैं जान-बूझकर बहाने बनाकर शाम को उठने का नाम न ले रहा था। अन्त में घड़ी देखते हुए व्याकुल होकर उसने कहा, 'आज हरिमति को लाने नहीं जाओगे?' मैंने चौंककर कहा, 'हां, हां, यह तो मैं भूल ही गया था। भाई, तुम खाना पकाकर रखना मैं ठीक साढ़े दस बजे उसे ले आऊंगा।' यह कहकर मैं चला आया।

आनन्द का नशा मेरे समस्त शरीर पर संचरण करने लगा। सन्ध्या ७ बजे पर मन्मथ का जो आग्रह देखा मेरा औत्सुक्य भी उससे कम न था। मैं अपने वासा से कुछ दूर अंधेरे में

रहकर बार-बार घड़ी देख रहा था। गोधूलि का अन्धकार घनीभूत होने पर जब गैस जलने का वक्त हुआ तो एक रुद्ध-द्वार पालकी हमारे होटल के अन्दर गई। उस आच्छन्न पालकी में एक अश्रुसिक्त अवगुंठित पाप, एक मूर्तिमती ट्रैजेडी को कालेज के छात्र-निवास में कई उड़ियों के कन्धों पर 'हांई'-'हांई' शब्दों से अनायास भाव से प्रवेश करते हुए देख मेरा समस्त शरीर पुलकित हो गया।

मैं और विलम्ब न सह सका। बहुत देर बाद धीरे-धीरे सीढ़ी से दो तल्ले पर आ गया। इच्छा तो थी कि छिपकर सारी बातें देखूंगा, परन्तु वह न हो सका, कारण सामने घर में मन्मथ सीढ़ी की ओर मुंह करके बैठा था और विपरीत एक अवगुंठिता नारी मृदु स्वर में बातें कर रही थी। जब देखा कि मन्मथ मुझे देख चुका है तो जल्दी से घर में प्रवेश करके बोला 'भाई, मैं अपनी घड़ी भूल गया था, उसे लेने आया हूं।' मन्मथ इतना अभिभूत हो गया कि वह अभी फर्श पर पड़ जाएगा। मैंने कौतुक और आनन्द से व्यग्र होकर कहा, 'क्यों भाई, तुम्हें कोई बीमारी हो गई है?' उसने कोई जवाब नहीं दिया। तब मैंने उस काष्ठ पुत्तलिकावत् नारी की ओर घूमकर पूछा, 'आप मन्मथ की कौन होती हैं?' कोई जवाब नहीं मिला, किन्तु देखा, वह मन्मथ की कोई नहीं है मेरी ही स्त्री है! इसके बाद की घटना सब जानते हैं।

यही मेरे डिटेक्टिव पद का प्रथम चोर पकड़ना है।"

मैंने कुछ देर बाद डिटेक्टिव महिचन्द्र से पूछा, "मन्मथ के साथ तुम्हारी स्त्री का सम्बन्ध समाज-विरुद्ध नहीं

भी हो सकता है।"

महिम ने जवाब दिया, "न होना भी सम्भव है। मेरी स्त्री के बक्स में मन्मथ की यह चिट्ठी मिली है।" कहकर एक चिट्ठी मेरे हाथ में दी। वह नीचे प्रकाशित है :

सुचरितासु--

हतभाग्य मन्मथ को शायद तुम अब तक भूल गई होगी। बाल्यकाल में जब मामा के घर जाया करता तो सर्वदा तुम्हारे घर जाकर तुम्हारे साथ खेला करता। हमारा वह खेल, घर और वह खेल का सम्बन्ध अब टूट गया है। तुम जानती हो कि नहीं, एक बार मैंने निर्लज्ज होकर तुम्हारे साथ अपने विवाह का सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की थी, किन्तु हमारी उम्र एक होने के कारण यह सम्बन्ध न हो सका।

इसके बाद तुम्हारा विवाह हो गया और चार-पांच वर्ष तक तुम्हारी कोई खबर नहीं मिली। आज पांच महीनों से तुम्हारे पति पुलिस की ड्यूटी पर इस शहर में आए हुए हैं, यह समाचार मिलते ही मैंने तुम्हारा घर ढूंढ़ निकाला। तुम्हारे साथ साक्षात् की दुराशा मेरी नहीं है। भगवान जानते हैं, तुम्हारे गृहस्थ-सुख में उपद्रव की तरह प्रवेश करने की दुरभिसन्धि भी मेरी नहीं है। सन्ध्या के वक्त तुम्हारे घर के सामने गैसपोस्ट के नीचे सूर्योपासक की तरह खड़ा रहता हूं। तुम ठीक संध्या साढ़े सात बजे मिट्टी के तेल का चिराग लेकर प्रत्यह नियमित रूप से दो तल्ला प्रदक्षिणा करके खिड़की के पास आती हो तो तुम्हारी दीपालोकित प्रतिमा

मेरे दृष्टिपथ पर उद्भासित हो उठती है––तुम्हारे सम्बन्ध में बस यही मेरा एक अपराध है।

घटनाचक्र से तुम्हारे पति से परिचय एवं घनिष्ठता हो गई। उसका चरित्र जैसा देखा, वैसा समझने में देर न लगी कि तुम सुखी नहीं हो। तुम्हारे पति पर मेरा कोई सामाजिक अधिकार नहीं है किन्तु विधाता ने तुम्हारे दुःखमोचन का भार मेरे ऊपर ही दिया है।

अतः मेरी स्पर्धा माफकर शुक्रवार संध्या ७ बजे केवल २० मिनट के लिए आओ तो मैं तुम्हें पति के बारे में कोई गोपनीय बातें बताऊंगा। यदि विश्वास न हो और सह्य कर सको तो मैं तुम्हें प्रमाण भी दे सकता हूं और साथ ही साथ कुछ परामर्श भी देना चाहता हूं। मैं भगवान को अन्तर में रखकर आशा करता हूं कि उस परामर्श के अनुसार चलने पर तुम एक दिन सुखी हो सकोगी। मेरा उद्देश्य सम्पूर्ण निःस्वार्थ भी नहीं है। क्षण काल के लिए तुम्हें अपने सामने रखूंगा, तुम्हारे चरण-तल स्पर्श से अपना गृह चिरकाल के लिए सुख-स्वप्न-मंडित करूंगा, यह आकांक्षा भी मेरे अन्तर में है। यदि मुझपर विश्वास न कर सको, यदि इस सुख से मुझे वंचित करना चाहती हो तो मुझे लिख देना। मैं पत्र द्वारा सब कुछ लिखूंगा। यदि चिट्ठी लिखने का भी साहस न हो तो यह पत्र अपने पति को दे देना, उसके बाद सारी बातें उसी-से कहूंगा।

नित्य शुभाकांक्षी––

श्री मन्मथ कुमार मजुमदार

दान-प्रतिदान

बड़ी बहू के जो बाणवाक्य हैं वे जितने तीक्ष्ण हैं, उतने ही कड़ुए भी। जिस हतभागिनी के ऊपर उनका प्रयोग हुआ है, उसका चित्त रह-रहकर जल उठता है। विशेष रूप से बात उसके स्वामी को लक्ष्य करके कही गई थी और स्वामी राधामुकुन्द तब रात का भोजन करके थोड़ी ही दूर पर बैठे ताम्बूल के साथ ताम्रकूट धूम के द्वारा खाद्य परिपाक में प्रवृत्त थे। उन्होंने जब बड़ी बहू के मुंह से खरी-खोटी सुनी तो विशेष विचलित नहीं हुए और अविचलित गाम्भीर्य के साथ ताम्रकूट निःशेष करके प्रतिदिन की तरह सोने चले गए।

किन्तु इस तरह की असाधारण सहन-शक्ति की सभी लोगों से आशा नहीं की जा सकती। रासमणि ने शयनगृह में पति से ऐसा व्यवहार किया जो इतिपूर्व उसने कभी भी करने का साहस नहीं किया था। अन्य दिनों की तरह उसने पति की पद-सेवा नहीं की। आज आते ही शय्या पर एक ओर सो गई और रोने लगी।

राधामुकुन्द इस ओर ध्यान न देकर सोने की योजना करने लगे किन्तु उनकी यह उदासीनता स्त्री के अधैर्य को और भी बढ़ा रही थी। देखकर वे मृदु स्वर में

बोले कि उन्हें भोर में जल्दी उठना है इसलिए निद्रा आवश्यक है।

स्वामी के कण्ठ-स्वर से रासमणि का क्रन्दन उभर पड़ा। राधामुकुन्द ने पूछा, "क्या बात है ?" रासमणि उत्कंठित स्वर में बोली, "सुना नहीं क्या ?"

"सुना है किन्तु बड़ी बहू ने तो एक भी बात झूठी नहीं कही है। मैं क्या भैया के अन्न से प्रतिपालित नहीं हूं ? तुम्हारे कपड़े-लत्ते, आभूषण इत्यादि क्या मैं अपने बाप के घर से लाया हूं ? जो खाने और पहनने को देता है तो उसे भी खाने-पोने में शामिल कर लेना चाहिए।"

"ऐसे खाने-पहनने से क्या फायदा ?"

"जीवित तो रहना है।"

"मृत्यु हो जाए तो ही अच्छा है।"

"जब तक पैसा नहीं आ रहा, तब तक सोने की कोशिश करो, आराम मिलेगा।" कहकर राधामुकुन्द उपदेश और दृष्टान्त के सामञ्जस्य-साधन में प्रवृत्त हो गए।

राधामुकुन्द और शशिभूषण सहोदर भाई नहीं हैं, नितान्त निकट का सम्पर्क भी नहीं है, प्रायः गांव का सम्पर्क कहा जा सकता है। किन्तु प्रीतिबन्धन सहोदर भाई से कम नहीं है। बड़ी बहू व्रज सुन्दरी को यह कुछ असह्य लगता था। विशेषतः शशिभूषण जो छोटी बहू को देते थे, वही बड़ी बहू को भी देते थे, विशेष पक्षपात वे नहीं करते थे। जिस वस्तु का एक जोड़ा नहीं मिलता था, वह बड़ी बहू को न देकर छोटी बहू को ही दिया करते थे। इसके अलावा भी वे स्त्री के अनुरोध की

अपेक्षा राधामुकुन्द के परामर्श पर अधिक ज़ोर देते थे। शशिभूषण ढीले थे, इसलिए प्रायः सारा काम-काज राधामुकुन्द ही करता था। बड़ी बहू सर्वदा सन्देह करती कि राधामुकुन्द तले-तले उसके स्वामी को लूटने का आयोजन कर रहा है। किन्तु जब उसका सन्देह निर्मूल हो जाता तो उसकी क्रोधाग्नि राधामुकुन्द की ओर बरसती। उसकी यह आग बीच-बीच में वाक्य-कटु प्रहारों द्वारा ज्वालामुखी की तरह फट पड़ती।

रात को राधामुकुन्द पूरी तरह सो पाए या नहीं, कहा नहीं जा सकता। किन्तु सुबह उठते ही शशिभूषण के पास जाकर खड़े हो गए। शशिभूषण व्यस्त होकर बोले, "राधे, तुम आज ऐसे कैसे हो रहे हो ? तबियत ठीक है न ?"

राधामुकुन्द मृदुस्वर में धीरे-धीरे बोले, "भैया, अब तो मेरा यहां रहना नहीं हो सकता।" यह कहकर गत संध्या की सारी घटना सुना दी।

शशिभूषण हंसकर बोले, "यह बात है ! यह तो कोई नई घटना नहीं है। वह तो दूसरों के घर की स्त्री है, अवसर पाते ही दो-चार बातें कहेगी, इससे क्या अपने आदमी को घर छोड़कर चला जाना चाहिए ? बातें तो मुझे भी बीच-बीच में सुननी पड़ती हैं किन्तु उसीसे मैं परिवार को थोड़े ही छोड़कर चला जाऊं ?"

राधा बोले, "औरत की बात क्या मैं अब नहीं सुन सकता ? किन्तु पुरुष होकर जन्म लेने से क्या फायदा ! मुझे डर लगता है कहीं मेरे कारण तुम्हारे घर में अशांति न हो।"

शशिभूषण बोले, "तुम चले जाओगे, लेकिन मुझे कैसे शांति रहेगी।"

इसके बाद अधिक बातें नहीं हुईं। राधामुकुन्द धीरे-धीरे उठकर चले गए। उनका हृदयभार पूर्ववत् बना रहा।

इधर बड़ी बहू का आक्रोश क्रमशः बढ़ रहा है। जब भी अवसर मिलता है राधामुकुन्द को दो-चार खरी-खोटी सुना देती है। अपने वाक्य-बाणों से रासमणि को भी शरशय्या-शायी कर देती है। राधामुकुन्द भी वैसे ही चुपचाप तम्बाकू पीते हैं और स्त्री को क्रन्दनोन्मुखी देखते ही जाते हैं। किन्तु ऐसा लगता है उनको भी यह असह्य लगने लगता है।

किन्तु शशिभूषण से उनका सम्पर्क आज का नहीं है—दोनों भाई एक साथ गुरुजी की पाठशाला में पढ़े हैं और कभी-कभी परामर्श कर स्कूल से भागकर दोनों ग्वालों के साथ खेलते रहे हैं। एक बिछौने पर सोकर मौसी से कहानी सुना करते थे, घर के लोगों से छिपकर रात को नाटक देखने जाते और सुबह पकड़े जाने पर दोनों को समान दण्ड मिलता—तब कहां थी ब्रज सुन्दरी और दूसरी रासमणि? जीवन के इतने दिनों को क्या एक दिन में विच्छिन्न किया जा सकता है? किन्तु यह बन्धन स्वार्थपरता का बन्धन है, इसका आभास मात्र ही उन्हें विष-तुल्य लगता। किन्तु इसी समय एक घटना घटी।

जब की बात कह रहा हूं उस वक्त निर्दिष्ट दिन के सूर्यास्त के पहले यदि सरकारी लगान नहीं दिया जाता तो ज़मींदार की सम्पत्ति नीलाम हो जानी थी।

एक दिन खबर मिली कि शशिभूषण की ज़मींदारी नीलाम हो गई। राधामुकुन्द अपने स्वाभाविक मृदुस्वर में बोले—

"दोष मेरा ही है।"

शशिभूषण बोले, "इसमें तुम्हारा क्या दोष है? तुमने तो लगान भेज दिया था, रास्ते में डाकुओं ने लूट लिया। इसमें तुम्हारा क्या दोष हो सकता है?" दोष किसका है यह सोचना वक्त बर्बाद करना है। इस समय तो परिवार को चलाना है। शशिभूषण सहसा कुछ करेंगे ऐसा उनका स्वभाव नहीं है, वे मानो तालाब की फिसलनी सीढ़ी से फिसलकर गिर पड़े। शशिभूषण स्त्री के गहनों को बन्धक रखने को उद्यत हुए। किन्तु राधामुकुन्द ने एक थैली रुपयों की लाकर उनके सामने रख दी। उन्होंने पहले ही स्त्री के गहनों को बन्धक में रखकर रुपया संग्रह किया था।

परिवार में एक बड़ा परिवर्तन आया। भले समय में गृहिणी जिसे दूर करने पर तुली हुई थी, संकटकाल में उसे ही व्याकुलता के साथ ग्रहण किया। इस समय दोनों भाइयों में से किसपर निर्भर रहा जा सकता है यह समझते उन्हें देर न लगी। राधामुकुन्द के प्रति कभी तिल मात्र भी विद्वेष था, उसका प्रकाश अब नहीं करती थी।

राधामुकुन्द पहले से ही स्वाधीन रूप से उपार्जन के लिए प्रस्तुत हुए थे। नज़दीक के शहर में मुख्तारी करने लगे थे। धीरे-धीरे उनका काम जम गया और उन्हें बड़े-बड़े ज़मींदारों के यहां से कार्यभार मिलने लग गया।

अब रासमणि की अवस्था पहले से बहुत विपरीत है। अब रासमणि के पति के अन्न से ही शशिभूषण और ब्रजसुन्दरी प्रतिपालित हैं। इस बात को लेकर कभी उसने गर्व किया या नहीं यह तो मालूम नहीं, किन्तु किसी दिन बड़ी बहू की इच्छा के विरुद्ध उसने कुछ कहा था। किन्तु वह केवल एक दिन के लिए ही कहा था, दूसरे दिन से छोटी बहू और भी अधिक नम्र हो गई। कारण, वह बात राधामुकुन्द के कानों में पहुंच गई थी। उसी रात में राधामुकुन्द ने छोटी बहू को उसके बाप के घर पहुंचा देने की व्यवस्था कर दी थी और सात दिन तक उसका मुंह नहीं देखा था। अन्त में ब्रजसुन्दरी ने विनती कर दम्पति का मिलन करवाया था।

राधामुकुन्द परिवार के खर्च के लिए सारा रुपया ब्रजसुन्दरी को देते थे। रासमणि अपनी आवश्यकतानुसार बड़ी बहू से ले लिया करती। घर में बड़ी बहू का मान पहले से अधिक था।

शशिभूषण के मुंह की सहज प्रफुल्ल हंसी तो पहले जैसी ही थी किन्तु भीतरी बीमारी से प्रतिदिन कृश होते जा रहे थे। और किसीने यह सब नहीं देखा था, केवल भैया का चेहरा देख गहरी रात को रासमणि जागकर देखती कि राधामुकुन्द दीर्घ स्वांस लेते हुए करवटें बदल रहे हैं।

राधामुकुन्द शशिभूषण को धीरज देते, "तुम्हें कोई चिन्ता नहीं भैया, तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति मैं लौटा लाऊंगा—अब अधिक देर नहीं है।" और सचमुच अधिक देर भी नहीं लगी। शशिभूषण की ज़मींदारी जिसने नीलाम में खरीदी थी

वह व्यवसायी था, ज़मींदारी के काम-काज से अनभिज्ञ। सम्मान के लोभ में खरीद लिया था, किन्तु सदर का लगान घर से ही देना पड़ता, ज़मींदारी से नफा बिलकुल नहीं होता था। राधा-मुकुन्द वर्ष में एक-दो बार लठैत लेकर लूटकर लगान ले आते। प्रजा भी उन्हें मानती थी। व्यवसायी ज़मींदार को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। राधामुकुन्द के परामर्श से ज़मींदारी की प्रजा व्यवसायी ज़मींदार के विरुद्ध आचरण करने लगी।

अन्त में वह बेचारा इस झंझट से निष्कृति के लिए उत्सुक हो उठा। राधामुकुन्द ने नाममात्र मूल्य से पूर्व सम्पत्ति खरीद ली।

इस बीच दस वर्ष बीत गए थे। इन दस वर्षों में शशि-भूषण अन्तरसूक्ष्म मानसिक वाष्पयान पर चढ़कर मानो वार्धक्य के बीचोंबीच पहुंच गए थे। पैतृक सम्पत्ति पाकर वे इतने आनन्दित नहीं हुए। बहुत-बहुत दिन अव्यवहार से हृदयवीणा विकल हो गई है, अब सहस्र बार तार खींचने पर भी पहले जैसा स्वर नहीं निकलेगा।

गांवों के लोगों ने आनन्द प्रकट किया। शशिभूषण से भोज का आयोजन करने के लिए कहने लगे। शशिभूषण ने राधामुकुन्द से पूछा, "क्या कहते हो, भाई ?"

राधामुकुन्द बोले, "अवश्य ! शुभ दिन पर अवश्य आनन्द मनाना चाहिए।"

गांव में ऐसा भोज कभी नहीं हुआ था। गांव का प्रत्येक आदमी निमंत्रित होकर आया था। ब्राह्मणों को दक्षिणा और

गरीबों को वस्त्र और भोजन दिया गया। वे लोग आशीर्वाद देते हुए गए।

शीतकाल के आरम्भ में मौसम खराब था। उसके ऊपर तीन दिन तक भोज रहा, जिसमें शशिभूषण ने अति परिश्रम किया था। उनका भग्न शरीर इस परिश्रम को नहीं सह सका। वे शय्याशायी हुए। कंपकंपी के साथ बुखार आता था। वैद्य ने कहा, "बड़ी कठिन बीमारी है।"

रात के दूसरे-तीसरे पहर रोगी के घर से सबको बाहर निकालकर राधामुकुन्द बोले, "भैया, आपकी अनुपस्थिति में सम्पत्ति का अंश किसको कितना देना होगा, इस बारे में उपदेश दीजिए।"

शशिभूषण बोले, "भाई मेरे पास क्या है जो किसी को दूं।"

राधामुकुन्द बोले, "सब तो आपका है।"

शशिभूषण बोले, "एक समय मेरा था, अब कुछ नहीं है।"

राधामुकुन्द बहुत देर तक चुप बैठे रहे, फिर जब शशिभूषण को स्वांस लेने में कष्ट होने लगा तो राधामुकुन्द उठकर रोगी के पैर पकड़कर बोले, "भैया, मैंने जो महापाप किया है वह कहूं? और तो समय नहीं मिलेगा।"

शशिभूषण कुछ नहीं बोले। राधामुकुन्द कहने लगे उसी शांत स्वाभाविक भाव से, केवल बीच-बीच में एक दीर्घ स्वांस छोड़ देते थे। वे बोले, "भैया, मैं अच्छी तरह सब कुछ कह सकूं इतनी क्षमता मुझमें नहीं है। मेरे मत का यथार्थ भाव एक अन्तर्यामी जानते हैं और पृथ्वी पर कोई जान सकता है तो तुम

हो। बाल्यकाल से मेरे और तुम्हारे अन्तर में कोई भेद नहीं था। केवल बाहर का भेद था। तुम धनी और मैं दरिद्र था। जब देखा कि इस सामान्य कारण से मेरे और तुम्हारे बीच विच्छेद की संभावना क्रमशः स्पष्ट हो रही है तो मैंने ही उस भेद को मिटा दिया था। मैंने ही तुम्हारा लगान लुटवाकर तुम्हारी सम्पत्ति नीलाम करवा दी थी।"

शशिभूषण ज़रा भी विस्मित न होकर बोले, "अच्छा ही किया था भाई, किन्तु जिसलिए ऐसा किया था वह सफल नहीं हुआ। अपने पास क्या रख पाए। दयामय हरि!"

शशिभूषण के प्रशान्त मृदुहास्य के ऊपर दोनों आंखों से दो बूंद आंसू टपक पड़े।

राधामुकुन्द उसके पैरों पर माथा रखकर बोले, "भैया, क्षमा कर दिया तो!"

शशिभूषण उसे नज़दीक बुलाकर उसका हाथ पकड़कर बोले, "भाई, यह बात मैं पहले से ही जानता था। तुमने जिन लोगों के साथ षड्यंत्र किया था उन्हीं लोगों ने मुझसे कहा था। मैंने तभी तुम्हें माफ कर दिया था।"

राधामुकुन्द दोनों हाथों से मुंह ढंककर रोने लगे। बहुत देर बाद बोले, "माफ यदि कर दिया है तो अपनी यह सम्पत्ति तुम ग्रहण करो, रुष्ट होकर इसे लौटाओ मत।"

शशिभूषण उत्तर नहीं दे सके—उनकी वाक्शक्ति लोप हो गई थी। राधामुकुन्द की ओर अनिमेष दृष्टि से देखकर दाहिना हाथ उठाया। इसका क्या अर्थ हुआ समझ में नहीं आया। किन्तु राधामुकुन्द संभवतः इसका अर्थ समझ गए थे।

लेन-देन

पांच लड़कों के बाद जब एक कन्या का जन्म हुआ तो मां-बाप ने बड़े चाव से उसका नाम रखा 'निरुपमा'। इस परिवार में ऐसा सुन्दर नाम किसीका नहीं रखा गया था। प्राय: देवी-देवताओं के नाम ही प्रचलित थे, जैसे, गणेश, कार्तिक, पार्वती इत्यादि।

अब निरुपमा के ब्याह की बात चल रही है। उसके पिता रामसुन्दर ने बहुत खोज की। किन्तु, उनकी पसन्द का वर कहीं नहीं मिला। अन्त में किसी रायबहादुर के एकमात्र पुत्र का संधान मिला। यद्यपि रायबहादुर की पैतृक सम्पत्ति पहले से बहुत कम हो गई थी फिर भी वंश-मर्यादा उतनी ही ऊंची थी।

वर-पक्ष की तरफ से दस हज़ार रुपये का दहेज़ और बहुत-सी दान-सामग्री की मांग की गई। रामसुन्दर ने बिना सोचे ही दहेज़ और दान-सामग्री देने का वचन दे दिया। आखिर ऐसा दूल्हा मिलेगा कहां!

रामसुन्दर किसी तरह से भी रुपयों की व्यवस्था नहीं कर सके। गिरवी रखकर, कर्ज़ लेकर भी सात हज़ार रुपये घट रहे थे। इधर ब्याह का दिन भी नज़दीक आ रहा था।

अन्त में ब्याह का दिन भी आ गया। बहुत अधिक ब्याज पर एक आदमी रुपया उधार देने की स्वीकृति दे गया था, किन्तु मौके पर वह भी नहीं आया। ब्याह-मण्डप में भारी गोलमाल होने लगा। रामसुन्दर ने रायबहादुर के पैर पकड़ लिए। बोले, "शुभ कार्य सम्पन्न होते ही मैं रुपया दे दूंगा।" रायबहादुर बोले, "जब तक रुपये नहीं मिलेंगे तब तक दूल्हा मण्डप के भीतर नहीं जाएगा।" इस दुर्घटना से अन्तःपुर में हलचल मच गई। ऐसी परिस्थिति में जो इस घटना की नायिका थी वह चुपचाप बैठी थी। अपने भावी श्वसुर-कुल के प्रति उसके मन में भक्ति पैदा हो रही थी या अनुराग, कहना मुश्किल है।

इस बीच एक सुविधा हुई। दूल्हा सहसा अपने पितृदेव का विरोधी हो उठा। बोला, "लेन-देन के बारे में मैं कुछ नहीं जानता, मैं ब्याह करने आया हूं, ब्याह करके चला जाऊंगा।" उसके पिता जिसे देखते थे उसीसे कहते, "महाशयजी, आपने देखा न, आजकल के लड़कों के व्यवहार को।" दो-एक प्रवीण व्यक्ति थे। बोले, "शास्त्र-शिक्षा, नीति-शिक्षा एकदम नहीं रही।"

वर्तमान शिक्षा का विषमय फल अपनी ही सन्तान में प्रत्यक्ष देखकर रायबहादुर हताश हो गए। विवाह किसी तरह से सम्पन्न हुआ। निरुपमा जब ससुराल जाने लगी तो पिता अपनी कन्या को छाती से लगाकर रोने लगे। नीरू ने पूछा, "बापू, वे लोग क्या अब मुझे आने देंगे?" रामसुन्दर बोले, "क्यों नहीं बेटी, मैं तुमको ले आऊंगा।"

रामसुन्दर प्राय: कन्या के घर जाते हैं किन्तु वहाँ उनका यथोचित सम्मान नहीं होता। कभी वे निरुपमा से मिल पाते, कभी ऐसे ही लौट आना पड़ता। कुटुम्बी के यहां अपमान नहीं सहा जाता। इसलिए रामसुन्दर ने निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, दहेज़ के रुपये चुकाने ही पड़ेंगे। किन्तु ऋण पहले से चढ़ा हुआ था, उसका भार ही असह्य हो रहा था। कर्ज़दारों को रामसुन्दर नाना प्रकार के हीन कौशलों से दूर रखते।

इधर ससुराल में उठते-बैठते निरुपमा को खरी-खोटी सुननी पड़ रही थी। पितृगृह की निन्दा सुनकर रोना उसका नित्य का काम हो गया था।

विशेष रूप से सास का आक्रोश किसी भी तरह से नहीं मिट रहा था। यदि कोई कहता, आहा, बहू कितनी सुन्दर है! तो सास झट कहती—"जैसे घर की बहू है वैसी ही सुन्दर होगी न।" बहू के खाने-पीने की भी कोई चिन्ता न करता था। यदि कोई दयापरतन्त्र प्रतिवेशिनी किसी त्रुटि का उल्लेख करती तो सास कहती—"जो मिलता है वही बहुत है।" अर्थात् इसका बाप यदि पूरा देता तो यह भी पूरा आदर पाती। सभी ऐसा भाव दिखाते कि बहू का यहां कोई अधिकार नहीं है, मानो वह धोखे से यहां आ गई है।

शायद रामसुन्दर के कानों में कन्या के अनादर की बात पहुंची थी, इसीलिए वे मकान बेचने की व्यवस्था करने लगे। किन्तु यह बात उन्होंने अपने लड़कों से नहीं कही। उन्होंने स्थिर किया था कि मकान को बेचकर उसे फिर भाड़े पर

ले लेंगे ताकि लोगों को पता न चले। किन्तु लड़कों को पत
चल गया। वे आए और रोने लगे। विशेष रूप से ती
लड़के, जिनकी शादी हो चुकी थी, की ओर से मका
बेचने के विरुद्ध प्रबल आपत्ति थी। इसलिए मकान बेचन
स्थगित रहा। तब रामसुन्दर चारों ओर से रुपये उधार ले
लगे।

निरुपमा पिता का मुंह देखकर सब समझ जाती। वृ
बाप के शुष्क मुख और सदा संकुचित भाव से दैन्य तथ
दुश्चिन्ता स्पष्ट दीख जाती थी। अपनी लड़की के निकट जब
बाप अपराधी हो, तो उस अपराध के अनुताप को कहां तक
छिपाया जा सकता है। रामसुन्दर जब ससुर की अनुमति से
निरुपमा से मिलते तो उनका हृदय किस तरह तड़फता
इसका उनकी हंसी देखकर ही अन्दाज़ किया जा सकता है
तभी निरुपमा पिता के व्यथित हृदय को शान्त करने के
लिए पितृगृह जाने के लिए अधीर हो उठती। पिता का
म्लान मुख देखकर वह दूर नहीं रह सकती थी। एक दिन
रामसुन्दर से बोली—"बापू, मुझे एक बार घर ले चलो।"
रामसुन्दर बोले—"अच्छा!"

किन्तु रामसुन्दर का कोई वश नहीं था। अपनी बेटी पर
उनका जो स्वाभाविक अधिकार था वह मानो दहेज़ के रुपये
के बदले गिरवी रखा जा चुका था। यहां तक कि कन्या का
दर्शन भी उन्हें अति संकोच के साथ मांगना पड़ता था। किन्तु
लड़की अपने घर आना चाहे तो पिता उसे बिना लाए कैसे रह
सकते हैं? इसलिए रामसुन्दर ने कितनी हीनता और अपमान

सहकर तीन हज़ार रुपये इकट्ठे किए, यह इतिहास यदि गुप्त ही रहे तो अच्छा है।

रुपयों को रूमाल में बांधकर और चद्दर में लपेटकर रामसुन्दर कुटुम्बी के यहां गए। पहले हंसकर उन्होंने पास-पड़ोस के समाचार कहे। हरेकृष्ण के घर पर चोरी हो गई थी। उसकी बात शुरू से अन्त तक कही। नवीन माधव और राधामाधव दोनों भाइयों की तुलना करके विद्या, बुद्धि और स्वभाव के बारे में राधा माधव की बड़ाई और नवीन माधव की निन्दा की। शहर में एक नई बीमारी का प्रादुर्भाव हुआ है, इसके बारे में सुनी हुई बात की। अन्त में हुक्के को एक ओर रखकर बोले—"अरे हां, वे रुपये बाकी पड़े हैं। रोज़ ही सोचता हूं कि जा रहा हूं, कुछ साथ ले लूं, किन्तु समय पर कुछ याद ही नहीं रहता। और भैया, अब तो बूढ़ा हो चुका हूं।" ऐसी एक दीर्घ भूमिका के बाद पंजर के तीन हाड़ की तरह तीन नोट मानो अति सहजता और सरलता से निकाल लिए। सिर्फ तीन हज़ार रुपये देखकर रायबहादुर अट्टहास कर उठे। बोले—"रहने दो भाई, इसकी मुझे ज़रूरत नहीं है।" एक प्रचलित लोकोक्ति का उल्लेख करके बोले कि सामान्य वस्तु के लिए वे अपने हाथ मैले नहीं करना चाहते।

इस घटना के बाद कन्या को घर ले जाने का प्रस्ताव कोई कवही नहीं सकता। सिर्फ रामसुन्दर ही ऐसे थे जिन्होंने सोचा, 'अब कुटुम्बिता का संकोच मुझे शोभा नहीं देता।' उन्होंने मर्माहत की तरह बहुत देर तक चुप रहने के बाद अन्त में धीरे से अपना उद्देश्य कहा। रायबहादुर कोई कारण का उल्लेख

न करके ही बोले—"वह अभी नहीं होगा।" और काम के बहाने अन्यत्र चले गए।

रामसुन्दर कन्या के निकट न जाकर कम्पित हाथों से नोटों को पुनः बांधकर घर लौट आए। मन ही मन प्रतिज्ञा की कि जब तक सारे रुपये नहीं दे दूंगा तब तक कन्या के घर नहीं जाऊंगा। इस तरह बहुत दिन बीत गए। निरुपमा पिता के पास आदमी भेजती, किन्तु वे नहीं आते। अन्त में अभिमान करके निरुपमा ने आदमी भेजना बन्द कर दिया। यह देखकर रामसुन्दर को दुःख हुआ, किन्तु फिर भी वे नहीं गए।

आश्विन महीने में रामसुन्दर ने प्रतिज्ञा कर ली कि इस बार निरुपमा को दुर्गापूजा के अवसर पर ज़रूर ले आऊंगा। पंचमी या षष्ठी के दिन पुनः रुपये लेकर कुटुम्बी के यहां जाने का आयोजन कर रहे थे। इसी समय पांच वर्ष की नातिन आकर बोली—"दादा, मेरे लिए साड़ी खरीदने जा रहे हो?" पांच वर्ष की नातिन ने एक साड़ी की मांग की। उसके पास पूजा पर पहनने के लिए कोई भी अच्छी साड़ी नहीं थी।

रामसुन्दर यह जानते थे और इसके बारे में सोचते भी थे। किन्तु इसमें उनके ललाट पर वार्द्धक्य की रेखा गम्भीरतर रूप से अंकित होने के सिवाय और कोई रास्ता न निकलता।

दैन्यपीड़ित गृह की क्रन्दन-ध्वनि को कानों से सुनते हुए रामसुन्दर रायबहादुर के घर के भीतर गए। आज उनके चेहरे पर संकोच के चिह्न नहीं हैं। वे मानो अपने ही घर में प्रवेश कर रहे हैं। उन्होंने सुना कि रायबहादुर घर पर नहीं हैं बैठना पड़ेगा। अपने आनन्द को छिपाने में असमर्थ होकर वे

बेटी से मिले। आनन्द से उनकी दोनों आंखों से जलधारा बहने लगी। बाप और बेटी दोनों रो रहे थे। रामसुन्दर बोले—"इस बार तुम्हें ले जाऊंगा बेटी ! अब कोई बाधा नहीं है।"

इसी समय रामसुन्दर का बड़ा लड़का हरमोहन अपने दो छोटे बच्चों को साथ लेकर सहसा घर के भीतर आया। पिता से बोला—"अब तो आपने हम लोगों को रास्ते पर ही खड़ा कर दिया !"

रामसुन्दर सहसा अग्निमूर्ति होकर बोले—"तुम लोगों के लिए क्या मैं नरक में जाऊं? तुम लोग मुझे सत्य भी पालन नहीं करने दोगे?" रामसुन्दर मकान बेच आए थे। लड़के किसी तरह भी यह बात न जान सकें इसकी व्यवस्था भी वे कर आए थे, किन्तु फिर भी बात छिपी न रही। यह देखकर रामसुन्दर को बहुत क्रोध आ रहा था।

निरुपमा सारी बात समझ गई। पिता से बोली—"बापू, तुमने यदि मेरे ससुर को एक पैसा भी दिया तो मैं तुम्हारा शरीर स्पर्श करके कहती हूं कि तुम अपनी कन्या को फिर कभी नहीं देख सकोगे।"

रामसुन्दर बोले—"ऐसा नहीं कहा करते बेटी। ये रुपये यदि मैं न दूं तो इससे तुम्हारे पिता का अपमान होगा और तुम्हारा भी।" निरुपमा बोली—"रुपये यदि दोगे तभी अपमान होगा। तुम्हारी बेटी की क्या कोई मर्यादा नहीं? मैं क्या रुपयों की थैली हूं, जिसका जब तक रुपया रहता है तभी तक मोल रहता है? नहीं बापू, ये रुपये देकर तुम मेरा अमपान मत करो। फिर मेरे स्वामी तो ये रुपये नहीं चाहते हैं।"

रामसुन्दर बोले—"तब तो ये लोग तुम्हें जाने न
देंगे।"

निरुपमा बोली—"नहीं देंगे तो क्या उपाय है ? तुम
मुझे मत लेने आया करो।"

रामसुन्दर कम्पित होथों से अपनी चद्दर को कन्धे
डालकर चुपचाप लौट आए।

किन्तु रामसुन्दर रुपये लाए थे और कन्या के कहने
लौट गए यह बात छिपी नहीं रही। किसी स्वभाव-कौतूह
दासी ने सुनकर यह बात निरुपमा की सास से कह दी। सुन
सास के आक्रोश की सीमा न रही।

निरुपमा के लिए श्वसुरालय शरशय्या हो उठा। उस
पति डिप्टी मजिस्ट्रेट होकर अन्यत्र चले गए थे। निरुप
के घर वाले उससे नहीं मिल सकते थे।

इसी समय निरुपमा को एक भारी पीड़ा शुरू हुई।
अपने शरीर के प्रति बिलकुल ध्यान नहीं देती थी। उसके म
में यह संस्कार बद्धमूल हो गया कि वह दूसरे के घर में दास
बांदी की तरह रह रही है। किन्तु सास से यह भी सहा न
गया। बोलीं—"नवाबज़ादी है इसलिए गरीब के घर का भोज
अच्छा नहीं लगता है।" कभी कहतीं—"ढोंग देखो इसक
दिन पर दिन लकड़ी होती जा रही है।"

रोग जब बहुत बढ़ गया तो सास बोलीं—"यह सब इस
ढोंग है।"

अन्त में एक दिन निरुपमा ने सविनय कहा—"पिताजी
और अपने भाइयों से एक बार मिलना चाहती हूं, मां !" सा

बोलीं—"यह सब बाप के घर जाने का छल है।"

कोई कहे तो विश्वास नहीं होगा—जिस दिन सन्ध्या को नीरू की सांस उखड़ने लगी उसी दिन पहली बार डाक्टर उसे देखने आया। यही अन्तिम देखना था।

घर की बड़ी बहू मरी है, खूब धूमधाम से अंत्येष्टि क्रिया सम्पन्न हुई। रामसुन्दर को सान्त्वना देते वक्त, उसकी बेटी की कैसी समारोहपूर्ण मृत्यु हुई है, सभी लोगों ने इसका वर्णन किया।

इधर डिप्टी मजिस्ट्रेट का पत्र आया—"मैंने यहां सब बन्दोबस्त कर लिया है; अविलम्ब मेरी स्त्री को यहां भेज दीजिए।" रायबहादुर की पत्नी ने लिखवाया—"बेटा, तुम्हारे लिए और एक लड़की देख रखी हूं। छुट्टी लेकर तुरन्त चले आओ।

"इस बार बीस हज़ार का दहेज और वह भी हाथों-हाथ।"

रामकनाई की निबुद्धिता

जो लोग यह कहते हैं कि गुरुचरण की मृत्यु के सम
उनकी द्वितीय पक्ष की स्त्री अंतःपुर में बैठकर ताश खेल रह
थी, वे लोग विश्वनिन्दक हैं; तिल का ताड़ करना ही उनक
स्वभाव है। असल में गृहिणी उस वक्त एक पैर पर बैठक
दूसरे पैर के घुटनों पर ठोड़ी रखकर कच्ची इमली, हरी मि
और मछली से भात खा रही थी। बाहर से जब बुलाहट हु
तो अन्नपात्र को छोड़कर गंभीर भाव से कहा, "थोड़ा भोज
करूं, इसकी भी फुर्सत नहीं है।"

इधर जब डाक्टर ने जवाब दे दिया तो गुरुचरण के भा
रामकनाई रोगी के पास बैठकर धीरे-धीरे बोले—"दाद
यदि तुम कोई वसीयतनामा लिखवाना चाहते हो तो बोलो।
गुरुचरण क्षीण स्वर में बोले—"मैं कह रहा हूं, तुम लि
लो। मेरी स्थावर-अस्थावर सारी संपत्ति मैं अपनी धर्मपत्न
श्रीमती वरदा सुंदरी को दे जाता हूं।" रामकनाई ने लिख
ज़रूर, किन्तु ये शब्द लिखने के लिए उनकी कलम नह
सरक रही थी। उनको बड़ी आशा थी कि उनका एकमा
पुत्र नवद्वीप अपने ताऊ की सारी संपत्ति का अधिका
होगा। यद्यपि दोनों भाई अलग रहते थे फिर भी इसी आश

से नवद्वीप की मां ने नवद्वीप को नौकरी नहीं करने दी थी और जल्दी ही उसका ब्याह भी कर दिया था। किन्तु फिर भी रामकनाई ने लिखा और दस्तखत करने के लिए दादा के हाथ में कलम भी पकड़ा दी। गुरुचरण के निर्जीव हाथों ने जो दस्तखत किए वह कुछ कम्पित वक्र रेखा हुई या उनका नाम, यह समझना दु:साध्य हो गया।

भोजन करके जब स्त्री आई तो गुरुचरण के वाक् रुद्ध हो चुके थे। यह देखकर उनकी स्त्री रोने लगी। जो लोग विषय संपत्ति से वंचित हो गए थे, वे इस रुदन को ढोंग कहने लगे। किन्तु यह विश्वास के योग्य नहीं है।

वसीयतनामे का वृत्तान्त सुनकर नवद्वीप की मां दौड़कर आई और बोली—"मृत्यु के समय इस तरह बुद्धिनाश हुआ करता है। ऐसा सोने जैसा भतीजा रहते…।"

रामकनाई स्त्री की श्रद्धा करते थे। भाषान्तर में इस श्रद्धा को भय भी कहा जा सकता है, किन्तु वे इस उक्ति को सहन नहीं कर सके। दौड़कर आकर बोले—"बहू, तुम्हारी बुद्धि-नाश का तो वक्त नहीं आया है न, तब फिर ऐसा व्यवहार क्यों कर रही हो? बड़े भैया चले गए, किन्तु मैं तो हूं। तुम्हें जो कुछ भी कहना है, पीछे मुझसे कहना, यह ठीक वक्त नहीं है।"

नवद्वीप जब संवाद पाकर आया तो ताऊ की मृत्यु हो चुकी थी। नवद्वीप मृत व्यक्ति को लक्ष्य करके बोला—"देखता हूं तुम्हारे मुंह में अग्नि कौन देता है और तुम्हारा श्राद्ध करूं तो मेरा नाम नवद्वीप नहीं।" गुरुचरण कुछ नहीं मानते थे। वे डफ़ साहब के छात्र रह चुके थे। शास्त्र के अनुसार जो

सर्वथा अखाद्य था उसीको परम तृप्ति से खाते थे। लोग यदि उन्हें ईसाई कहते तो वे जीभ निकालकर कहते--"हो राम-राम, मैं यदि ईसाई होऊं तो गोमांस खाऊं।" जीवित अवस्था में जिनका यह हाल था, सद्यःमृत अवस्था में वे पिंडनाश की आशंका से ज़रा भी विचलित होंगे, इसकी संभावना नहीं थी। किन्तु तब प्रतिशोध लेने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। नवद्वीप को यह सोचकर तृप्ति मिली कि यह आदमी नरक में जाकर पड़ा रहेगा। ताऊ की संपत्ति न मिलने पर भी किसी तरह पेट भरने को अन्न तो मिल ही जाएगा, किन्तु ताऊ जहां गए हैं उस लोक में भीख मांगने पर भी पिण्ड न मिलेगा। जीवित रहने पर बहुत-सी सुविधाएं मिलती हैं। रामकनाई वरदासुन्दरी के पास जाकर बोले—"भाभी, भैया तुम्हें ही सारी संपत्ति दे गए हैं। यह लो दलील। लोहे के बक्स में ठीक से रख दो।"

विधवा तब उच्चस्वर में विलाप कर रही थी। दो-चार दासियां भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर अपने शोक-संगीत से सारे गांव की निद्रा को दूर भगा रही थीं। बीच में दलील का आना था कि विधवा का विलाप अब उसकी वाणी में फूट पड़ा—

"अरे मेरा यह सर्वनाश कैसे हो गया रे। अच्छा देवरजी, यह दलील किसने लिखी है? आपने? अरे आपके सिवाय मेरा और कौन है रे।

"अरे, तुम लोग ज़रा ठहरो, इतना क्यों चिल्ला रही हो। मुझे देवरजी की बात सुनने दो। हाय मैं पहले क्यों नहीं मर

गई रे।" रामकनाई मन में बोले—"यह हमारे भाग्य का दोष है।"

घर लौटकर नवद्वीप की मां रामकनाई को बुरा-भला कहने लगी। लदी हुई गाड़ी लेकर बैल गड्ढे में गिरकर जिस प्रकार गाड़ीवान के हाथ से मार खाकर भी चुपचाप निश्चल भाव से खड़े रहते हैं, रामकनाई भी चुपचाप स्त्री की बातों को सुनते रहे। अन्त में जब उनसे नहीं रहा गया तो कातर स्वर में बोले—"मेरा क्या दोष है? मैं तो दादा नहीं हूं।"

नवद्वीप की मां फुफकार उठी—"नहीं, तुम बड़े आदमी हो जैसे कुछ जानते ही नहीं। हां, दादा ने कहा लिखो और भैया ने लिख दिया। तुम सब एक-से हो। तुम इस कीर्ति के लिए ही बैठे थे। मेरे मरने के बाद किसी डाइन को घर में लाकर चांद से बेटे को रास्ते का भिखारी बनाओगे, यही तुम्हारी इच्छा है। किन्तु इसके लिए ज़रा भी मत सोचो, मैं इतनी जल्दी नहीं मरूंगी।"

इस तरह रामकनाई के भावी अत्याचार की कल्पना करके गृहिणी अधिक असहिष्णु हो उठी। रामकनाई यह निश्चित जानते थे कि इन काल्पनिक आशंकाओं का यदि उन्होंने ज़रा भी प्रतिवाद किया तो उससे हित के बदले अहित होने की संभावना अधिक है। इस डर से अपराधी की तरह चुप खड़े रहे, मानो वह भूल हो गई है, मानो वे चांद जैसे बेटे को संपत्ति से वंचित करके मर गए हैं, अब अपराध स्वीकार करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है।

इस बीच नवद्वीप अपने बुद्धिमान मित्रों से परामर्श करके मां से बोला—"कोई चिन्ता की बात नहीं है मां ! यह संपत्ति मुझे ही मिलेगी। कुछ दिन के लिए बाबूजी को यहां से दूसरी जगह भेजना पड़ेगा। उनके यहां रहने पर सब काम चौपट हो जाएगा।" नवद्वीप के पिता की बुद्धि पर नवद्वीप की मां को ज़रा भी श्रद्धा नहीं थी। इसलिए पुत्र की यह बात उसके भी मनपूरक हुई। और उनको ताड़ना से यह निर्बोध, अनावश्यक और अकर्मण्य पिता किसी तरह कुछ दिनों के लिए काशी चला आया।

कुछ दिनों के बाद ही वरदासुन्दरी और नवद्वीप चन्द्र एक दूसरे के प्रति दलील की जालसाज़ी करने का अभियोग लगाकर अदालत में आ गए। नवद्वीप ने अपने नाम को जो वसीयत दिखाई उसमें गुरुचरण के स्पष्ट हस्ताक्षर थे। वसीयत के एक-दो निःस्वार्थ गवाह भी मिल गए। वरदासुन्दरी के पक्ष में नवद्वीप के बाप ही एक मात्र साक्षी थे। उनके मामा का एक बेटा भी था जो उन्हींके गृह में रहता था। वह बोला—"दीदी, तुम बिलकुल मत सोचो। मैं गवाही दूंगा और अन्य गवाह भी जुटा लूंगा।"

मामला जब सम्पूर्ण रूप से खड़ा हो गया तो नवद्वीप की मां ने नवद्वीप के बाप को काशी से बुला लिया।

नवद्वीप के पिता के आते ही अदालत से गवाही का सम्मन मिला। रामकनाई विस्मित होकर इस सम्मन का अर्थ सोचने लगे। सहसा नवद्वीप की मां आकर रोने लगी—"चुड़ैल ने केवल मेरे नवद्वीप को संपत्ति से वंचित ही नहीं किया

बल्कि अब उसे जेल भी भिजवाने की व्यवस्था कर रही है।"

अन्त में जब रामकनाई सारा मामला समझ गए तो उन्हें काठ मार गया। वे उच्चस्वर में चिल्लाकर बोले—"तुम लोगों ने यह क्या किया ?" गृहिणी क्रमशः अपना असली स्वरूप प्रकाश करके बोली—"क्यों ? इसमें नवद्वीप का क्या दोष है ? वह अपने ताऊ की सम्पत्ति न ले ?"

हतबुद्धि रामकनाई ने जब देखा कि उनकी स्त्री और पुत्र दोनों मिलकर कभी अश्रु-विसर्जन करते हैं तो कभी तर्जन, तो वे कपाल पर कराघात करके बैठ गए, आहार, निद्रा त्याग दी, जल तक स्पर्श नहीं किया।

इस तरह चुपचाप अनाहार में दो दिन बीत गए। मुकदमे का दिन आ गया। इस बीच नवद्वीप ने वरदासुन्दरी के ममेरे भाई को डरा-धमकाकर ऐसा वश में कर लिया था कि वह भी उसके पक्ष में गवाही दे गया। 'जयश्री' जब वरदासुन्दरी को छोड़कर अन्य पक्ष की ओर जा रही थी तो रामकनाई गवाही देने के लिए खड़े हुए।

अनाहार से मृतप्राय वृद्ध साक्ष्यमंच पर खड़े हो गए। चतुर बैरिस्टर अत्यन्त सावधानी से नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। रामकनाई हाथ जोड़कर जज की ओर मुड़कर बोले—"धर्मावतार, मैं वृद्ध हूं, अत्यन्त दुर्बल भी। अधिक कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मुझे जो कहना है संक्षेप में कहता हूं। मेरे स्वर्गीय बड़े भाई गुरुचरण चक्रवर्ती मृत्युकाल में सारी सम्पत्ति अपनी स्त्री श्रीमती वरदासुन्दरी को वसीयत करके दे गए थे। वह वसीयतनामा मैंने अपने हाथ से

लिखा था और दादा ने अपने हाथ से सही की थी। मेरे पुत्र नवद्वीपचन्द्र ने जो वासीयतनामा अदालत में दाखिल किया है, वह नकली है।" यह कहकर रामकनाई मूर्छित होकर गिर पड़े।

चतुर बैरिस्टर ने अपने पार्श्ववर्ती एटर्नी से कहा—"बूढ़े को कैसे कसकर पकड़ा था।" ममेरा भाई दौड़कर दीदी से बोला–"बूढ़े ने सब चौपट कर दिया था। मेरी गवाही से ही तुम जीत गईं।"

दीदी बोली—"आदमी को पहचानना मुश्किल है। मैं तो उसे भला आदमी समझती थी।"

कारारुद्ध नवद्वीप के बुद्धिमान मित्रों ने स्थिर किया कि बूढ़े ने निश्चय ही डर के मारे ऐसा किया है, गवाही देते वक्त अपनी बुद्धि ठीक नहीं रख सका।

घर लौटकर रामकनाई कठिन ज्वर से पीड़ित हो गए। प्रलाप में पुत्र का नाम लेते-लेते नवद्वीप के अनावश्यक बाप पृथ्वी से चले गए। आत्मीयों में से किसी-किसीने कहा–"कुछ दिन पहले चले जाते तो कितना अच्छा होता।" किन्तु कहने वाले का नाम नहीं कहना चाहता।

जयमाला

राजकन्या का नाम अपराजिता है। उदयनारायण के सभाकवि शेखर ने कभी उन्हें देखा नहीं है। किन्तु जिस दिन कोई नया काव्य राजा को सुनाते तो सभातल में बैठकर अपने कण्ठ-स्वर को इतना ऊंचा कर लेते, जिससे स्वर वातायनवर्तिनी अदृश्य श्रोत्रियों के भी कानों में जा सके। मानो वे किसी एक अगम्य नक्षत्रलोक को लक्ष्य करके अपना संगीतोच्छ्वास प्रेरित कर रहे हैं, जहां ज्योतिष-मंडली में उनके जीवन का शुभग्रह अदृश्य महिमा से विराज रहा है।

कभी छाया की तरह देख पाते, कभी नूपुर-ध्वनि सुनाई पड़ती। वे बैठकर सोचते, वे चरण कैसे होंगे जिनमें सोने के नूपुर बंधे हुए ताल पर गीत गुनगुना रहे हैं। उन दो रक्तिम शुभ्र कोमल चरणों के प्रति पदक्षेप में कितना सौभाग्य, कितना अनुग्रह, कितनी करुणा पृथ्वी को स्पर्श कर रही है। अपने मन में उन चरणों की प्रतिष्ठा करके कवि अवसर काल में उनकी नूपुरशिंजन से गीत लिखता।

परन्तु, जो छाया देखी थी, जो नूपुर सुने थे, वह किसकी छाया, किसके नूपुर हैं, ऐसा तर्क भक्त के हृदय में कभी नहीं उठा था।

राजकन्या की दासी मंजरी जब घाट पर जाती तो शेखर के घर के सामने से उसे जाना पड़ता। आते-जाते कवि से उसकी दो-चार बातें ज़रूर हो जातीं। वैसे, निर्जनता देखकर वह कभी-कभी शेखर के घर के भीतर भी जाकर बैठती थी। जितनी बार वह घाट पर जाती उतनी बार ही उसे आवश्यकता थी, ऐसा नहीं लगता था। यदि आवश्यकता थी तो भी घाट जाते वक्त विशेष यत्न से एक रंगीन वस्त्र पहनने और कानों में दो आम्रमुकुल लगाने का कोई उचित कारण नहीं मिलता था।

लोग हंसते, कानाफूंसी करते। लोगों का कोई दोष नहीं था। मंजरी को देखकर शेखर विशेष खुश होता और इस खुशी को छिपाने का प्रयास वह नहीं करता।

उसका नाम था मंजरी, विवेचना करके देखने पर साधारण लोगों के लिए यह नाम ही यथेष्ट था, किन्तु शेखर ज़रा कवित्व करके उसे वसन्तमंजरी कहता।

लोग सुनकर मुस्काते और कवि की वसन्त-वर्णना में 'मंजुल बंजुल मंजरी' ऐसे अनुप्रास भी बीच-बीच में मिलते। यहां तक कि जनरव राजा के कानों में भी गया था।

राजा अपने कवि के इस रस-बोध का परिचय पाकर और भी आमोदित हुए—इसे लेकर वे कौतूहल दिखाते, शेखर भी उसमें भाग लेता।

राजा हंसकर पूछते—'भ्रमर क्या वसन्त की राज-सभा में ही गीत गाया करता है?"

कवि कहता—"नहीं महाराज, पुष्प-मंजरी का मधु भी चखा करता है।"

इसी तरह सभी कवि से चुटकी लेकर आनन्दित होते। अन्तःपुर में भी राजकन्या अपराजिता मंजरी से उपहास करती, किन्तु मंजरी इससे असंतुष्ट नहीं होती थी। इसी तरह झूठ और सत्य में मिलकर मनुष्य का जीवन एक तरह से कट जाता है—कुछ विधाता गढ़ता है, कुछ अपने-आप बन जाता है और कुछ पांच आदमी मिलकर बना देते हैं। इस तरह जीवन पंचमेल है, प्राकृत और अप्राकृत, काल्पनिक और वास्तविक।

केवल कवि जिन गीतों को गाते थे वे ही सत्य और सम्पूर्ण थे। गीतों का विषय वही राधा और कृष्ण—वही चिरन्तन नर और चिरन्तन नारी, वही अनादि दुःख और अनन्त सुख था। वे गीत ही यथार्थ रूप से उनकी अपनी बात थी और उन गीतों का अर्थ अमरापुर के राजा से लेकर दीन प्रजा तक ने अपने हृदय में अनुभव किया था। उनके गीत हर एक के मुंह पर थे। चांदनी खिलते ही, ज़रा दक्षिण हवा का झोंका आते ही, देश में सर्वत्र बगीचों में, कितनी सड़कों पर, कितनी नावों पर कवि के रुचिर गीत मुखरित हो उठते—उनकी ख्याति की सीमा नहीं थी।

इस प्रकार बहुत-से दिन बीत गए। कवि कविता लिखते, राजसभा के लोग 'धन्य-धन्य' कहते, मंजरी घाट पर आती—और अन्तःपुर के वातायन से कभी-कभी एक छाया पड़ती, कभी-कभी एक नूपुर की ध्वनि सुनाई पड़ती। इसी समय दाक्षिणात्य से एक दिग्विजयी कवि शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में राजा का स्तुतिगान करते हुए राजसभा में आए। वे स्वदेश से होते हुए रास्ते में आए हुए सभी देशों के राजकवियों को

परास्त करके अन्त में अमरापुर में आए हैं।

राजा ने परम आदर से कहा—"पधारिए, पधारिए।"

कवि पुंडरीक दम्भ से बोले—"युद्धं देहि।"

राजा के सम्मान को रखने के लिए काव्य-युद्ध करना ही पड़ेगा। किन्तु इस युद्ध के बारे में शेखर अच्छी तरह कु नहीं जानते थे। वे चिन्तित और शंकित हो उठे। रात क नींद नहीं आई। यशस्वी पुंडरीक का दीर्घ बलिष्ठ देह सुतीक्ष्ण वक्र नासिका और दर्प से उद्धत मस्तक उन्हें सर्व दिखाई देने लगा।

प्रातःकाल कवि ने कम्पित हृदय से रणक्षेत्र में प्रवे किया। प्रभात होते ही सभास्थल लोगों से भर गया था। नग के अन्य सारे काम-काज बन्द हो गए।

कवि शेखर ने अति कष्ट से मुंह पर प्रफुल्लता लाकर कवि पुंडरीक को नमस्कार किया; पुंडरीक ने सम्पूर्ण अवज्ञा नितान्त इंगितमात्र से प्रतिनमस्कार किया और अपने अनुवर्त भक्तों की ओर देखकर मुस्कराया।

शेखर ने एक बार अन्तःपुर के वातायन की ओर कटा से देखा—समझ गए कि वहां से आज सैकड़ों कौतूहलपू कृष्णतारिकाओं की दृष्टि इसी जनता पर पड़ रही है। एक बा एकाग्रभाव से चित्त को उसी ऊर्ध्वलोक में स्थिर करके अपन जयलक्ष्मी की वन्दना कर आए, मन ही मन बोले—'मैं यि आज विजयी होऊं तो हे देवी, हे अपराजिता, उससे तुम्हा नाम ही सार्थक होगा।'

तुरही-भेरी बज उठी। जयध्वनि करते हुए समागत स

खड़े हो गए। शुक्लवसन राजा उदयनारायण शरत् प्रभात के शुभ्र मेघ की तरह धीरे-धीरे सभा में आए और सिंहासन पर बैठ गए।

पुंडरीक उठकर सिंहासन के सामने आकर खड़े हो गए। वृहत् सभा स्तब्ध हो गई।

वक्ष विस्फारित करके, ग्रीवा को ईषत् ऊंची उठाकर, विराट् मूर्ति पुंडरीक उदयनारायण की स्तुति पढ़ने लगे। उनका कंठस्वर सभास्थल में गूंजने लगा, और उसी कंठस्वर के ध्वनि-वेग से समग्र जनमंडली विस्मय से निर्वाक् हो गई। विभिन्न प्रकार से उदयनारायण के नाम की व्याख्या की, राजा-स्तुति के नाम के अक्षरों से कितने छन्द, कितने विन्यास और यमक हो सकते हैं, यह भी अति सुन्दर ढंग से बताया।

पुण्डरीक जब बैठ गए तो बहुत देर तक उनके गम्भीर कण्ठस्वर की प्रतिध्वनि सभागृह में गूंजती रही। दूर देश से आगत पण्डितों ने दाहिना हाथ उठाकर साधुवाद दिया।

सिंहासन पर बैठे हुए राजा ने एक बार शेखर की ओर देखा। शेखर ने भी भक्ति, प्रणय, अभिमान और एक प्रकार की सकरुण, संकोचपूर्ण दृष्टि से राजा की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे खड़े हो गए। राम ने जब लोकरंजनार्थ द्वितीय बार अग्नि-परीक्षा करनी चाही थी तो सीता मानो इसी तरह अपने स्वामी की ओर देखती हुई सिंहासन के सामने खड़ी हो गई थी।

कवि की दृष्टि ने नीरव भाव से राजा से कहा—"मैं तुम्हारा ही हूं। तुम यदि दुनिया के सामने मेरी परीक्षा लेना

चाहते हो तो लो। किन्तु......" इसके बाद आंखें नीची क
लीं।

पुंडरीक शेर की तरह खड़े थे। शेखर चारों ओर स
व्याध-वेष्टित हरिण की तरह खड़े हुए। तरुण युवक, रमण
की तरह लज्जा और स्नेह-कोमल मुख, पांडुवर्ण कपोल—
ऐसा लगता था मानो भाव के स्पर्श-मात्र से ही समग्र दे
वीणा के तार की तरह झनझना उठेगी।

शेखर ने नतमुख रहकर धीरे-धीरे शुरू किया। पहल
श्लोक शायद किसीको अच्छी तरह नहीं सुनाई पड़ा। इस
बाद धीरे-धीरे मुख उठाया। सुमिष्ट स्पष्ट कण्ठस्वर कांपते
कांपते मानो अग्नि-शिखा की तरह बढ़ने लगा। पहले राजा
चन्द्रवंशीय आदि पुरुषों की बात कही। धीरे-धीरे कितने यु
की कहानी, यज्ञ-दान और अनुष्ठानों की कथा सुनाकर अपन
राजकहानी को वर्तमान काल में ले आए। अन्त में अपन
दृष्टि को राजा के मुख पर निबद्ध करके समस्त प्रजा के हृदय
की एक बृहत् अव्यक्त प्रीति को भाषा के छन्द में मूर्तिमा
करके सभा के बीच में खड़ा कर दिया—मानो दूर-दूरान्त
शत-सहस्र प्रजाओं का हृदय शब्द-रचनामय राजपितामहों
इस अति पुरातन प्रसाद के महासंगीत से भर दिया। अन्त
शेखर बोले—"महाराज, शब्द-रचना में हार मान सकता ह
किन्तु भक्ति में मुझे कौन हराएगा ?" यह कहकर कम्पित दे
लेकर बैठ गए। तब अश्रुजल से अभिषिक्त प्रजागण ने जय
जयकार किया।

साधारण जनमंडली की इस उन्मत्तता की धिक्कारपू

हास्य द्वारा अवज्ञा करके पुंडरीक पुनः खड़े हो गए। गर्जन करके बोले—"वाक्य से श्रेष्ठ कौन है?" सारी राजसभा स्तब्ध हो गई। इसके बाद उन्होंने नाना छन्दों में वेद-वेदान्त, आगम और निगम से यह प्रमाणित कर दिया कि विश्व में वाक्य ही श्रेष्ठ है।

इस तरह पाण्डित्य के ऊपर पाण्डित्य और शास्त्र के ऊपर शास्त्र को चढ़ाकर वाक्य के लिए एक अभ्रभेदी सिंहासन का निर्माण किया और वाक्य को स्वर्ग और मर्त्यलोक के मस्तक पर बैठाकर पुनः वज्रनिनाद करके पुंडरीक बोले—"वाक्य से श्रेष्ठ कौन है?"

पुंडरीक ने दर्प से चारों ओर देखा, और जब किसीने कोई उत्तर नहीं दिया तो पुनः धीरे-धीरे आसन पर बैठ गए। पंडितगण 'साधु-साधु' और 'धन्य-धन्य' करने लगे; पुंडरीक के पाण्डित्य को देखकर विस्मित हो गए। कवि शेखर अपने-आपको इस विपुल पाण्डित्य के सामने क्षुद्र समझनें लगे। आज की सभा योंही भंग हुई।

दूसरे दिन शेखर ने गीत गाना शुरू किया—वृन्दावन में प्रथम बार वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ी है, गोपियां यह नहीं जानती हैं कि वंशी कौन बजा रहा है और कहां बज रही है। एक बार ऐसा जान पड़ा कि दक्षिण पवन में वंशी बज रही है, कभी गिरि गोवर्द्धन के शिखर से मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही है। ऐसा लग रहा है, मानो कोई उदयाचल पर खड़ा

होकर मिलन के लिए पुकार रहा है, मानो निर्जन प्रान्त पर बैठा कोई विरह-शोक में रो रहा है, मानो यमुना की प्रत्येक तरंग में वंशी बज उठी है, मानो आकाश का प्रत्येक तारा उस वंशी का छिद्र है—अन्त में कुंज-कुंज में, सड़कों पर, फल और फूलों में, जल और स्थल में, अन्दर और बाहर सर्वत्र वह वंशी बजने लगी—वंशी कौन-सा गीत गा रही है यह कोई नहीं समझा सका और वंशी के गीत के उत्तर में हृदय क्या कहना चाहता है वह भी कोई स्थिर नहीं कर सका, केवल दोनों आंखों में अश्रु छलछला आए और एक अभ्रलोक-सुन्दर श्यामस्निग्ध मृत्यु की आकांक्षा से सारा देह-मन उत्कंठित हो उठा।

कवि शेखर राजसभा को भूल गए, आत्मपक्ष और प्रति-पक्ष भूल गए, यश-अपयश, जय-पराजय, उत्तर-प्रत्युत्तर सब भूलकर केवल अपने गीतों में खो गए। मानो अपने हृदय-निकुंज में, एकान्त में वे इस वंशी का गीत गा रहे हैं। सिर्फ एक ज्योतिर्मयी मानस-मूर्ति की याद थी, जिसके नूपुर उनके कानों में बज रहे थे। कवि जब गीत समाप्त करके बैठ गए तो एक अनिर्वचनीय माधुर्य, एक बृहत् व्याप्त विरह-व्याकुलता से राजसभा परिपूर्ण हो उठी—कोई भी साधुवाद नहीं दे सका।

थोड़ी देर बाद पुंडरीक उठे। प्रश्न किया—"राधा कौन है और कृष्ण कौन है?" इसके बाद अपने प्रश्न का स्वयं ही उत्तर देने लगे। बोले—"राधा प्रणव ओंकार, कृष्ण ध्यान योग और वृन्दावन दोनों भ्रुवों के बीच का स्थान है। इड़ा, सुषुम्ना,

पिंगला, नाभिपद्म, हृत्पद्म, ब्रह्मरन्ध्र सभीका दृष्टान्त उपस्थित किया। 'रा' का क्या अर्थ है और 'धा' का क्या अर्थ है, कृष्ण शब्द के 'क' से लेकर मूर्धन्य 'ण' तक जितने अक्षर हैं प्रत्येक के कितने विभिन्न अर्थ हो सकते हैं इसकी मीमांसा की। एक बार कृष्ण को यज्ञ और राधा को अग्नि बताया; एक बार कृष्ण को वेद और राधिका को षड्दर्शन और इसके बाद कृष्ण को शिक्षा और राधिका को दीक्षा बताया। राधा तर्क है तो कृष्ण मीमांसा है, राधा उत्तर-प्रत्युत्तर है तो कृष्ण जयलाभ है।

यह कहकर राजा की ओर, पंडितों की ओर और तीव्र हास्य से शेखर की ओर देखते हुए पुंडरीक बैठ गए।

राजा पुंडरीक की आश्चर्य-क्षमता से मुग्ध हो गए, पंडितों के विस्मय का अन्त न रहा और राधा और कृष्ण की नई-नई व्याख्याओं से वंशी के गीत, यमुना-कल्लोल, प्रेम का मोह एकदम दूर हो गया, मानो पृथ्वी के ऊपर से कोई वसन्त की हरियाली को उजाड़ता हुआ पवित्र गोमय लेपन करता हुआ चला गया।

शेखर अपने इतने दिनों के गीतों को वृथा समझने लगे। इसके बाद गाने की शक्ति उनमें न रही। उस दिन सभा भंग हुई।

उस दिन पुंडरीक ने व्यस्त और समस्त, द्विव्यस्त और द्विसमस्त, वृत्त, तार्क्ष्य, सौत्र, चक्र, पद्म, काकपद, आद्युत्तर, मध्योत्तर, अन्तोत्तर, वाक्योत्तर, लोकोत्तर, वचनगुप्त, मात्रा-

च्युतक, च्युतदत्ताक्षर, अर्थगूढ़, स्तुतिनिन्दा, अपह्नुति, शुद्धापभ्रंश, शाब्दी, कालसार, प्रहेलिका प्रभृति अद्भुत शब्दों का अर्थ बताकर शब्दचातुरी दिखाई। पुंडरीक के इस पांडित्य को देखकर राजसभा मंत्रमुग्ध हो गई।

शेखर ने जो पद लिखे थे वे सरल थे, उन्हें दुःख-सुख में सर्वसाधारण व्यवहार करते थे। आज उन्होंने सोचा इसमें कोई पाण्डित्य नहीं है; मानो वे लोग भी इच्छा करते ही ऐसे पद लिख सकते थे, केवल अनभ्यास, अनिच्छा और अनवसर के कारण ही यह नहीं हो पाया। इन गीतों के शब्दों में नवीनता कहां है। इससे पृथ्वी के लोगों की शिक्षा नहीं होगी। किन्तु आज जो सुना वह अपूर्व था, कल जो सुना था वह भी अद्भुत था। पुंडरीक के पांडित्य के सामने उनका अपना कवित्व नितान्त बालक की तरह ही लग रहा था।

मत्स्यपुच्छ की ताड़ना से जल में जो आन्दोलन होता है, उसे सरोवर का पद्म जिस तरह समझ लेता है उसी तरह शेखर ने भी अपने चारों ओर के लोगों के मन का भाव समझ लिया।

आज अन्तिम दिन है। आज जय-पराजय का निर्णय होगा। राजा ने अपने कवि की ओर तीव्र दृष्टिपात किया। उसका अर्थ था—आज चुपचाप रहने से नहीं चलेगा, तुम्हें यथासाध्य कोशिश करनी होगी।

शेखर शान्तभाव से उठकर खड़े हुए, और सिर्फ यही कहा—"वीणापाणि, श्वेत भुजा, तुम यदि अपने कमल-वन को छोड़कर मल्लभूमि में आज आई हो तो उन भक्तों का क्या होगा जो अमृत के प्यासे हैं।" शेखर ने मुंह उठाकर करुण

स्वर में कहा। मानो श्वेत भुजा, वीणापाणि नतनयनों से राजान्त:पुर के जलायन के सामने खड़ी है।

पुण्डरीक ने विकट हास्य किया और 'शेखर' शब्द के अन्तिम दो अक्षरों को लेकर बहुत-से श्लोक बना दिए। इसके बाद बोले—"पद्मवन से खर का कौन-सा सम्पर्क है और संगीत की इतनी साधना करने के बाद भी उक्त प्राणी ने कैसा फल पाया है? और सरस्वती का अधिष्ठान ही पुंडरीक में है, महाराज के अधिकार में उन्होंने कौन-सा अपराध किया है जो यहां उसे खरवाहन करके अपमानित किया गया है!"

पंडितगण इसके प्रत्युत्तर पर हंसने लगे। सभासदों ने भी उसके साथ हंसना शुरू किया और इन लोगों की देखा-देखी सभी हंसने लगे।

इसके उपयुक्त प्रत्युत्तर के लिए राजा अपने कविसखा को अंकुश की तरह तीक्ष्ण दृष्टि से ताड़ना करने लगे। किन्तु शेखर ज़रा भी विचलित नहीं हुए और अटल बैठे रहे।

तब, राजा शेखर के प्रति मन ही मन अत्यन्त रुष्ट होकर सिंहासन से खड़े हो गए और गले से मोतियों का हार खोलकर पुण्डरीक के गले में पहना दिया। सभा के सभी लोग 'धन्य-धन्य' कर उठे। अन्त:पुर में एकसाथ बहुत-से नूपुरों की ध्वनि सुन पड़ी—उसी ध्वनि को सुनकर शेखर धीरे-धीरे सभागृह छोड़कर बाहर चले गए।

कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि है। अन्धकार में फूलों की गंध

दक्षिण हवा के साथ उदार विश्वबन्धु की तरह नगर के घर-घर में प्रवेश कर रही है।

घर के काष्ठमंच से शेखर ने काव्य-ग्रन्थों को उतारकर सामने स्तूपाकार कर रख दिया है। उनमें अपने ग्रन्थों को अलग कर दिया। कुछ पुरानी रचनाएं थीं जो अब शेखर को याद भी न थीं। उन्हें तत्पर हो पलटकर पढ़ने लगे। आज यह सब अकिंचित्कर लग रहा था।

श्वास छोड़कर बोले—"सारे जीवन का यह संचय! थोड़े-से छन्द और वाक्यों का मेल।" इनमें कोई सौन्दर्य, मानव का चिर आनन्द, किसी विश्व-संगीत की प्रतिध्वनि, अपने हृदय का गम्भीर आत्मप्रकाश जो उनमें निबद्ध था—आज उन्हें नहीं दिखाई पड़ा। रोगी के मुंह में जिस प्रकार कोई खाद्य भी नहीं रुचता है उसी तरह आज जो भी हाथ में आता उसे अलग रख देते थे। राजा की मैत्री, लोक-ख्याति, हृदय की दुराशा, कल्पना का कुहक—आज अंधेरी रात में सभी शून्य में विलीन हो गए।

शेखर ने अपने काव्य-ग्रन्थों को फाड़कर सामने की जलती हुई आग में फेंकना शुरू किया। सहसा एक उपहास की याद आई। हंसते-हंसते बोले, "बड़े-बड़े राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं—आज मैं काव्यमेध यज्ञ कर रहा हूं।" किन्तु तभी लगा कि तुलना ठीक नहीं हुई। अश्वमेध अश्व जब सर्वत्र विजयी होकर आता है, तभी अश्वमेध होता है— मेरा कवित्व जिस दिन पराजित हुआ, मैं उस दिन काव्य-मेध यज्ञ करने बैठा हूं—और भी आगे करना ठीक होता।

एक-एक करके सारे ग्रन्थ जला डाले। अग्नि को लपटें जब ऊंची उठीं तो कवि अपने दोनों शून्य हाथों को ऊपर उठाकर बोले—"तुम्हें दिया, तुम्हें, दिया, तुम्हें दिया, हे सुन्दरी अग्निशिखा, तुम्हें ही दिया। इतने दिनों तक तुम्हें ही सारी आहुति देता आया हूं, आज सब कुछ दे रहा हूं। बहुत दिनों से तुम मेरे हृदय में जल रही थीं, हे मोहिनी, बहुरूपिणी, यदि सोना होता तो चमक उठता—किन्तु मैं तुच्छ तृण हूं, देवी, तभी आज भस्म हो गया हूं।"

रात्रि बहुत हो गई। शेखर ने अपने घर के सभी वातायन खोल दिए। उन्हें जो फूल पसन्द थे वे फूल सन्ध्या के समय बगीचे से लेते आए थे। उन्हीं फूलों को बिछौने पर फैला दिया और घर के चारों ओर प्रदीप जला दिए।

इसके बाद मधु के साथ एक उद्भिद् का ज़हर मिलाकर पी गए और धीरे-धीरे शय्या पर जाकर सो गए। शरीर अवश और नेत्र बन्द होने लगे।

नूपुर बज उठे। दक्षिण हवा के साथ केश-गुच्छों की एक सुगन्धि घर के भीतर दौड़ पड़ी। कवि ने निमीलित नेत्रों से कहा—"देवी, भक्त पर दया की है क्या? इतने दिनों बाद अब दर्शन दिया है?"

एक सुमधुर स्वर-कंठ से उत्तर आया—"कवि, आई हूं।"

शेखर ने चौंककर आंखें खोलीं। देखा, शय्या के सामने अपरूप एक रमणी-मूर्ति खड़ी है।

मृत्युसमाच्छन्न वाष्पाकुल नेत्रों से स्पष्ट नहीं देख पाए। ऐसा प्रतीत हुआ, उनके हृदय की वह छायामयी प्रतिमा अन्तर

से बाहर आकर मृत्यु के समय उनकी ओर स्थिर नेत्रों से देख रही है। रमणी ने कहा—"मैं राजकन्या अपराजिता हूं।" कवि अति कष्ट से उठकर बैठ गए।

राजकन्या ने कहा—"राजा ने तुम्हारा सुविचार नहीं किया है। विजय तुम्हारी ही हुई है। कवि! तभी मैं तुम्हें जयमाल देने आई हूं।"

यह कहकर अपराजिता ने अपने कंठ से स्वहस्तरचित पुष्पमाल खोलकर कवि के गले में पहना दी। मरणाहत कवि शय्या पर गिर पड़े।

दुराशा

दार्जिलिंग पहुंचकर देखा, वृष्टि से दशों दिशाएं ग्राच्छन्न हैं। घर से बाहर जाने की इच्छा नहीं होती ग्रौर घर के भीतर रहने की प्रवृत्ति भी नहीं थी।

होटल में प्रातःकाल का भोजन समाप्त करके भारी बूट ग्रौर ग्रापादमस्तक मैकिनटोश पहनकर घूमने निकल पड़ा। जनशून्य 'कलिकाता रोड' पर एकाकी पद-चारण करते वक्त सोच रहा था कि ग्रवलम्बनहीन मेघराज्य में तो ग्रब ग्रच्छा नहीं लगता, शब्द-स्पर्श-रूपमयी विचित्रा धरती माता को पुनः पांच इन्द्रियों से प्राप्त करने की प्रबल इच्छा मन में उठने लगी।

इसी समय थोड़ी दूरी पर किसी रमणी-कंठ की सकरुण रोदन-गुञ्जन-ध्वनि सुनाई पड़ी। रोग-शोक-संकुल इस विचित्र संसार में रोदन-ध्वनि ज़रा भी विचित्र नहीं है, ग्रन्यत्र किसी समय इधर दृष्टिपात भी नहीं करता, किन्तु इस ग्रसीम मेघ-राज्य में वह रोदन समस्त सुप्त जगत् के एकमात्र रोदन की तरह मेरे कान में ग्राकर बजने लगा।

रोदन-ध्वनि को लक्ष्य करके जाकर देखा। गैरिक वसनावृत एक नारी रास्ते के किनारे एक शिलाखंड पर बैठी मृदुस्वर में

क्रन्दन कर रही है।

मन में सोचा, यह भी खूब रही, मानो काल्पनिक की तरह आरम्भ हो रही है, अपनी आंखों से कभी किसी संन्यासिनी को पर्वतशृंग पर बैठे रोते हुए देखूंगा ऐसी आशा किसी भी काल में नहीं थी।

लड़की की जाति क्या है, यह समझ में नहीं आया। फिर भी हिन्दी में पूछा—"कौन हो तुम ? क्या चाहती हो ?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। मानो मेघ के भीतर से उसने सजल दीप्त नेत्रों से मेरी ओर एक बार देखा।

मैंने पुनः कहा—"मुझसे डरो मत। मैं भद्र आदमी हूँ।"

सुनकर उसने हंसते हुए खास हिन्दुस्तानी में कहा—"बहुत दिनों से डर-भय का रोग मुझसे हट गया है, शर्म-लाज भी मुझे छूती नहीं है। बाबूजी, एक समय जहां रहती थी वहां मेरा सहोदर भाई भी बिना अनुमति के नहीं जाता था। आज संसार में मैं किसीसे पर्दा नहीं करती।"

पहले ज़रा गुस्सा हुआ, मेरी चाल-ढाल बिलकुल साहब जैसी है फिर इसने मुझे बाबूजी कैसे कहा। एक बार सोचा यूंही अपने उपन्यास को शेष करके सिगरेट का धुआं उड़ाता हुआ चला जाऊं। किन्तु मन में रमणी के प्रति असह्य कुतूहल हो रहा था। अन्त में कुतूहल ने ही विजय पाई। मैंने कुछ उच्च भाव से पूछा—"मैं कुछ मदद कर सकता हूं ? तुम्हारी कोई प्रार्थना है ?"

उसने मेरे मुंह की ओर स्थिर भाव से देखा और कुछ देर बाद संक्षेप में कहा—"मैं विन्द्रावन के नवाब गुलाम कादेर

खां की कन्या हूं ।"

विन्द्रावन किस मुल्क में है और नवाब गुलाम कादेर कौन-सा नवाब है और उसकी कन्या किस दुःख से संन्यासिनी के वेश में दार्जिलिंग में 'कलिकाता रोड' पर बैठकर रो सकती है—इनके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता हूं और इन्हें विश्वास भी नहीं करता हूं, फिर भी सोचा, रसभंग नहीं करूंगा, कहानी खूब जम रही है ।

उसी क्षण गम्भीर होकर सलाम करके बोला—"बेगम साहिबा, माफ कीजिएगा, मैंने आपको पहिचाना नहीं था ।"

न पहचानने के अनेक कारण थे, इनमें से सर्वप्रधान युक्तियुक्त कारण यह था कि इतिपूर्व मैंने कभी भी उन्हें नहीं देखा था, तिसपर जैसा कुहरा था, उसमें अपने हाथ-पैरों को पहिचानना ही कठिन था ।

बीबी साहिबा ने भी मेरा कसूर नहीं लिया और संतुष्ट कंठ से दाहिना हाथ उठाकर इंगित से स्वतन्त्र शिलाखंड दिखाकर कहा—"बैठिए ।"

देखा, रमणी में आदेश करने की अपूर्व क्षमता है । विन्द्रावन के गुलाम कादेर खां की कन्या नूरउन्निसा या मेहेरउन्निसा या नूरमुल्क ने मुझे दार्जिलिंग में 'कलिकाता रोड' के किनारे अपने आसन के सामने बैठने की अनुमति दी है, यह बात होटल से मैकिनटोश पहनकर निकलते वक्त स्वप्न में भी नहीं सोची थी ।

हिमालय-वक्ष के शिलातल पर एकान्त में बैठे दो पान्थ नर-नारी की रहस्यालाप-कहानी सहसा सद्यः सम्पूर्ण काव्य-

कथा की तरह ही लगती है। पाठक के हृदय में दूरागत निर्जन गिरिकन्दर की निर्झर-प्रपात-ध्वनि और कालिदास-रचित मेघ-दूत, कुमारसंभव का विचित्र संगीत जाग उठता है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि बूट और मैकिनटोश पहने 'कलिकाता रोड' के किनारे एक दीनवेशिनी हिन्दुस्तानी रमणी के साथ एकत्र उपवेशनपूर्वक सम्पूर्ण आत्मगौरव को अक्षुण्ण भाव से अनुभव कर सके, ऐसे लोग विरले ही हैं। किन्तु, उस दिन घनघोर वाष्प से दसों दिशाएं आवृत थीं, लज्जा करने योग्य कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था; केवल अनन्त मेघराज्य में विन्द्रावन के नवाब गुलाम कादेरखां की पुत्री और मैं, एक नवविकसित बंगाली साहेब—दोनों दो शिलाखंडों पर विश्व-जगत् के दो खंड प्रलयावशेष की तरह बैठे थे, इस विसदृश सम्मिलन का परम परिहास केवल हमारे अदृष्ट के ही गोचर था, किसीके दृष्टि-गोचर नहीं था।

मैंने कहा—"बीबीजी, आपका यह हाल किसने किया?"

विन्द्रावन की कुमारी ने कपाल पर कराघात करके कहा—

"ऐसा कौन किया करता है यह मैं क्या जानूं? इतने बड़े पत्थर के कठिन हिमालय को किसने सामान्य वाष्प मेघ से अंतराल में कर रखा है?"

मैंने किसी प्रकार का दार्शनिक तर्क न उठाते हुए सब कुछ स्वीकार कर लिया।

बीबी ने कहा—"मेरे जीवन की आश्चर्य-कहानी आज ही समाप्त हुई है। यदि फरमाइश करें तो कहूं।"

मैंने आग्रह से कहा—"ज़रूर, ज़रूर! इसमें फरमाइश की

क्या बात है। यदि अनुग्रहपूर्वक कहें तो सुनकर अपने को धन्य समझूंगा।"

बीबी साहिबा ने कहा—"मेरे पितृकुल में दिल्ली के सम्राट् वंश का रक्त था। उसी कुलवर्ग की रक्षा करते रहने पर भी मेरे लिए उपयुक्त दूल्हा नहीं मिल रहा था। लखनऊ के नवाब के साथ मेरी सगाई की बातचीत चल रही थी। इसी समय दांत से कारतूस काटने को लेकर सिपाहियों के साथ सरकार की लड़ाई छिड़ गई। हमारा किला यमुना के किनारे था। हमारी फौज का अधिनायक था एक हिन्दू। उसका नाम था केशरलाल।"

रमणी ने इस केशरलाल शब्द पर अपने कंठ का मानो सारा संगीत उंडेल दिया। मैं हिल-डुलकर ठीक से बैठकर सुनने लगा—

"केशरलाल निष्ठावान हिन्दू थे। मैं प्रतिदिन सुबह उठकर अन्तःपुर के गवाक्ष से देखती, केशरलाल यमुना के जल में निमग्न रहकर नवोदित सूर्य को लक्ष्य करके अंजलि प्रदान करते थे। इसके बाद सिक्त वस्त्रों से ही भैरों राग का भजन गाते-गाते घर लौटते थे।

"मैं मुसलमान बालिका थी, किन्तु कभी भी स्वधर्म की व्याख्या नहीं सुनी थी। अपने धर्म की उपासना-पद्धति भी मुझे ज्ञात न थी। उस समय विलास, सुरा और स्वेच्छाचार से हमारे पुरुषों में धर्म का बंधन शिथिल हो गया था, अन्तःपुर के प्रमोद-भवन में भी धर्म सजीव नहीं था।

"विधाता ने शायद मुझमें स्वाभाविक धर्म-पिपासा दी

थी अथवा और कोई निगूढ़ कारण था या नहीं—यह मैं नहीं कह सकती। किन्तु, प्रत्यह प्रशान्त प्रभाव के नवोन्मेषित अरुणालोक में निस्तरंग नील यमुना के निर्जन श्वेत सोपान तट पर केशरलाल की पूजा-अर्चना को देखकर मेरा सद्य सुप्तोत्थित अन्तःकरण एक अव्यक्त भक्ति-माधुर्य से पूर्ण हो जाता।

"संयत शुद्धाचार से ब्राह्मण केशरलाल का गौरवर्ण, तरुण देह धूमलेशहीन ज्योतिःशिखा की तरह लगता था। ब्राह्मण का पुण्य-महात्म्य अपूर्व श्रद्धा के साथ इस मुसलमान दुहिता के मूढ़ हृदय को विनम्र कर देता।

"मेरी एक हिन्दू बांदी थी। वह प्रतिदिन केशरलाल के चरणस्पर्श करके प्रणाम करती और उनकी पदधूलि लेती थी। उसे ऐसा करते देख मेरे मन में आनन्द होता और बांदी के प्रति ईर्ष्या भी होती। बीच-बीच में वह बांदी ब्राह्मण भोजन कराकर दक्षिणा देती। मैं आर्थिक सहायता देकर कहती 'तुम केशरलाल को निमंत्रण नहीं दोगी?' वह कहती—'केशरलाल ब्राह्मण हैं, लेकिन किसीका अन्न ग्रहण या दान-प्रतिग्रह नहीं ग्रहण करते हैं।'

"इस तरह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से केशरलाल को किसी प्रकार का भक्ति-चिह्न नहीं दिखा सकने पर मेरा चित्त मानो क्षुब्ध और क्षुधातुर हो गया।

"हमारे किसी पूर्व पुरुष ने किसी ब्राह्मण कन्या से बलपूर्वक ब्याह किया था। मैं अन्तःपुर में बैठी उसीका पुण्यरक्त अपनी शिराओं में अनुभव करती और उसी रक्तसूत्र से केशरलाल के

साथ एक ऐक्य सम्बन्ध की कल्पना करके कुछ तृप्ति पाती थी।

"इसी समय कम्पनी के सिपाहियों के साथ लड़ाई छिड़ गई। हमारे विन्द्रावन के छोटे-से किले में भी विप्लव की तरंग जाग उठी।

"केशरलाल ने कहा—'अब गोमांस-भक्षी गोरों को आर्यावर्त से निकालकर ही दम लूंगा।'

"मेरे पिता गुलाम कादेरखां सावधान व्यक्ति थे। उन्होंने कहा—'अंग्रेज लोग असाध्य साधन कर सकते हैं। हिन्दुस्तान के लोग उनसे नहीं लड़ सकेंगे। मैं अनिश्चित प्रत्याशा में अपना छोटा-सा किला नहीं खोऊंगा। मेरे सैनिक अंग्रेज़ों के साथ नहीं लड़ेंगे।'

"जब हिन्दुस्तान के सारे हिन्दू-मुसलमानों का रक्त उत्तप्त हो गया था, तो उस वक्त मेरे पिता की बनिये जैसी सावधानता को देखकर मेरे मन में उनके प्रति घृणा पैदा हो गई थी। मेरी बेगम माताएं तक चंचल हो गई थीं।

"इसी समय सशस्त्र फौज लेकर केशरलाल ने मेरे पिता से कहा—'नवाब, आप यदि हमारे पक्ष में नहीं मिलेंगे तो जब तक लड़ाई चलेगी आपको बंदी करके आपके किले का आधिपत्य अपने हाथ में रखूंगा।'

"पिता ने कहा—'यह सब कुछ नहीं करना पड़ेगा। तुम निश्चिन्त रहो, मैं तुम्हारे ही दल में रहूंगा।'

"केशरलाल ने कहा—'कोष से कुछ धन चाहिए।' मेरे पिता ने विशेष कुछ न देकर कहा, 'जब-जब आवश्यकता पड़ेगी, तब-तब देता रहूंगा।'

"मेरे पास जितने आभूषण थे उन्हें एकत्र करके हिन्दू दासी के हाथ केशरलाल को भेज दिए। उन्होंने जब मेरे गहने ले लिए तो आनन्द से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा था।

"केशरलाल ने पुरानी तलवारों और बन्दूकों की सफाई करनी शुरू कर दी। सहसा इसी समय ज़िले के कमिश्नर साहब गोरों की फौज लेकर हमारे किले में आ गए।

"मेरे पिता ने चोरी से उन्हें विद्रोह का सम्वाद भेज दिया था।

"विन्द्रावन की फौज पर केशरलाल का ऐसा प्रभाव था कि उनके कहते ही टूटी हुई बन्दूकों और पुरानी तलवारों को लेकर वे लड़ने को प्रस्तुत हो गए।

"विश्वासघातक पिता का घर नरक की तरह लगने लगा! क्षोभ, दुःख और लज्जा से हृदय विदीर्ण हो रहा था। अपने डरपोक भाई की पोशाक पहनकर मैं चुपचाप किसीसे कुछ न कहकर घर से निकल पड़ी।

"धूल और बारूद के धुएं से सारा आसमान भर गया था। यमुना के जल को रक्तराग में रंगकर भास्कर भगवान अस्त हो गए। सन्ध्या के आकाश में परिपूर्ण चन्द्र का उदय हुआ।

"रणक्षेत्र का दृश्य अति भयानक था। दूसरे समय मैं इस दृश्य को देखकर विदीर्ण हो जाती, किन्तु उस दिन स्वप्नाविष्ट की तरह मैं केवल केशरलाल का ही संधान कर रही थी।

"ढूंढते-ढूंढते रात्रि के द्विप्रहर में उज्ज्वल चन्द्रालोक में देखा कि रणक्षेत्र से थोड़ी दूर पर यमुना के किनारे आम्रकानन

की छाया में केशरलाल और उनके भृत्य देवकीनन्दन की भक्त देह पड़ी थी। समझते देर न लगी कि भयंकर आहत अवस्था में प्रभु ने भक्त को अथवा भक्त ने प्रभु को रणक्षेत्र से इस निरापद स्थान पर लाकर मृत्यु के हाथों में आत्मसमर्पण कर दिया है।

" मैंने भू-लुंठित होकर अपनी बहुत दिनों की अभिलाषा चरितार्थ की। केशरलाल के पैरों पर गिरकर मैं अपने केश खोल-कर बारम्बार उनकी पदधूलि पोछने लगी। अपने उत्तप्त ललाट पर उनके पादपद्म का स्पर्श किया। उनके चरणों का चुम्बन करते ही बहुत दिनों की निरुद्ध अश्रुराशि उद्वेलित हो उठी।

" इसी समय केशरलाल की देह विचलित हुई। उनके कंठ से वेदना का अस्पष्ट आर्तस्वर सुनकर मैं उनके चरणतल छोड़कर चौंक उठी, सुना निमीलित नेत्रों से, शुष्क कंठ से उन्होंने कहा—'पानी'।

" मैं तत्क्षण अपने गात्र-वस्त्रों को यमुना के जल में भिगो-के ले आई और वस्त्रों को निचोड़कर उसका पानी उनके मुंह में डालने लगी। केशरलाल के क्षतस्थानों पर पट्टी बांध दी।

" इस तरह कई बार यमुना से पानी लाकर उनके मुंह पर डालती रही। धीरे-धीरे उन्हें चेतना हुई। मैंने पूछा, 'और पानी दूं ?'

" केशरलाल ने पूछा, 'कौन हो तुम ?'

" मैंने कहा—'आपकी सेविका, नवाब कादेरखां की कन्या हूं।' यह कहकर सोचा था कि मृत्यु के समय केशरलाल

अपने भक्त का शेष परिचय लेते जाएंगे, इस सुख से मुझे कोई वंचित नहीं कर सकता।

"मेरा परिचय पाते ही केशरलाल सिंह की तरह गर्जन कर उठे--'बेईमान की बेटी, विधर्मी! मृत्यु के समय भी यवन का पानी पिलाकर मेरा धर्म खो गई।' कहकर प्रबल शक्ति से मेरे कपाल पर दाहिने हाथ से आघात किया। मैं मूर्छितप्राय होकर चारों ओर अंधकार देखने लगी।"

मैं मंत्रमुग्ध की तरह बैठा था। कहानी सुन रहा था या संगीत सुन रहा था मालूम नहीं। मेरे मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला था। इतनी देर बाद सहसा असह्य होकर बोला--"जानवर!"

नवाब-कन्या ने कहा--"कौन जानवर? जानवर क्या मृत्यु-यंत्रणा में मुंह का पानी फेंक देता है?"

मैंने कहा--"तब केशरलाल देवता है।"

नवाब-दुहिता ने कहा--"कैसे देवता? देवता क्या भक्त की एकाग्रचित्त की सेवा का प्रत्याख्यान किया करते हैं?"

"यह भी ठीक है।" कहकर मैं चुप हो गया।

नवाब-पुत्री कहने लगी--"पहले तो मैं स्तम्भित रह गई। ऐसा लगा मानो मेरे ऊपर आसमान टूट पड़ा है। चेतना पाकर कठोर, कठिन, निष्ठुर, निर्विकार, पवित्र ब्राह्मण को दूर से प्रणाम किया।

"नवाब-दुहिता को भू-लुण्ठित होकर प्रणाम करते देखकर केशरलाल ने मन में क्या सोचा था यह तो कह नहीं सकती किन्तु उनके मुंह पर किसी प्रकार का भावान्तर नहीं आया।

केवल शान्तभाव से मेरी ओर देखकर चले गए। यमुना के घाट पर एक छोटी-सी नाव थी। उस नाव पर बैठकर केशरलाल ने नाव खोल दी। देखते-देखते नाव अदृश्य हो गई।" यह कहकर नवाब-कन्या चुप हो गई। मैं भी कुछ नहीं बोला।

बहुत देर बाद वक्ता ने शुरू किया, "इसके बाद की घटनावलि अत्यन्त जटिल है। एक गम्भीर जंगल के भीतर से यात्रा की थी। कौन-से रास्ते से चली थी, अब क्या उसे ढूंढ़ा जा सकता है ? किन्तु जीवन के इन कुछ दिनों में ही समझ गई कि असह्य या असम्भव कुछ नहीं है। नवाब के अन्तःपुर की बालिका के लिए बाहर की दुनिया एकान्त व दुर्गम हो सकती है, किन्तु वह काल्पनिक है। एक बार निकल पड़ने पर चलने के लिए एक न एक रास्ता मिलेगा ही। वह रास्ता नवाबों का नहीं है। उसपर चिरकाल से लोग चलते आए हैं—वह विचित्र है, सीमाहीन है, पर है तो रास्ता ही !

"इस साधारण मानव के चलने के पथ पर एकाकिनी नवाब-दुहिता की सुदीर्घ यात्रा का वृत्तान्त मनोरंजक नहीं होगा, होने पर भी उन बातों की पुनरावृत्ति करने का उत्साह मुझमें नहीं है। संक्षेप में यही कह सकती हूं।

"दुःख-कष्ट मुझे बहुत सहने पड़े हैं फिर भी जीवन असह्य नहीं लगा। आतिशबाज़ी की तरह जितनी जलती गई उतनी ही उदात्त गति पाती गई। जब तक वेग से चलती रही तब तक जलती रही, ऐसा बोध नहीं हुआ। आज सहसा उस परम दुःख के परम सुख की आलोक वर्त्तिका के बुझते ही पथ-

प्रान्त की धूलि पर जड़पदार्थ की तरह गिर पड़ी हूं—आज मेरी यात्रा शेष हो गई है। यहीं मेरी कहानी भी समाप्त होती है।"

यह कहकर रमणी खड़ी हो गई और बोली—"नमस्कार बाबूजी।"

दूसरे क्षण मानो संशोधन करके बोली—"सलाम बाबू साहब!" इस मुसलमानी अभिवादन के साथ ही वह उस हिमाद्रि शिखर के धूसर कुहरे में अदृश्य हो गई।

आंखें खोलकर देखा, सहसा मेघ के भीतर से स्निग्ध सूर्यालोक में झिलमिलाता हुआ आकाश दृष्टिपथ पर उद्भासित हो उठा। ठेलागाड़ी पर अंग्रेज रमणी और अश्वपृष्ठ पर अंग्रेज पुरुषगण हवाखोरी के लिए निकले हैं।

द्रुत उठ खड़ा हुआ। इस सूर्यालोक में वह मेघाच्छन्न कहानी सत्य नहीं लगती थी। मेरा विश्वास है, मैंने पर्वत के कुहरे के साथ अपनी सिगरेट की धूमकुण्डली मिलाकर एक कल्पना की थी। वह मुसलमान ब्राह्मणी, वह विप्र वीर, वह यमुना के तीर का किला, पर अब शायद कुछ भी सत्य नहीं है।

◇ ◇

देय तिथि	देय तिथि

गेट, दिल्ली